अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका
फ़रवरी 2022
प्रकृति का प्रच्छन्न चेहरा

अग्निशिखा फ़रवरी २०२२ वर्ष ५२, अंक ७, पूर्णांक ६१८

विषय-सूची

प्रकृति का प्रच्छन्न चेहरा

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

प्रार्थना/सम्पादकीय	३
क्या है प्रकृति	५
प्रकृति के विभिन्न पहलू	१८
सागर के प्रति	१९
प्रकृति की गतिविधियाँ	३०
प्रकृति तथा नूतन सृष्टि	३८
प्रकृति तथा माँ	४२

पुरोधा

दैनन्दिनी		४४
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' सच्चा गुरु कौन है?	नवजातजी	४७
श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	५०
चल, अब रुक मत (कविता)	शक्ति शर्मा	५४
लाजवाब पिकनिक	वन्दना	५५

सभी बाहरी परिवर्तन आन्तरिक रूपान्तर की सहज और अनिवार्य अभिव्यक्ति होने चाहियें। साधारणतः भौतिक जीवन के समस्त विकास को अन्दर चरितार्थ की गयी प्रगति का प्रस्फुटन होना चाहिये।

२९ मार्च १९५८ श्रीमाँ

प्रार्थना

११ जून १९१४

हे प्रभो, हर सवेरे अनगिनत प्रणाम तेरी ओर उठते हैं, सत्ता की सभी अवस्थाओं की ओर से और उनके तत्त्वों के समूह की ओर से प्रणाम। और यह सभी वस्तुओं की ओर से 'सर्व' को दैनिक उत्सर्ग है, अज्ञान और अहंकार की ओर से तेरे प्रकाश और प्रेम को आह्वान है। और तेरा उत्तर सतत रूप से आता है और पूर्णतः दिखलायी देता है : सब कुछ प्रकाश है, सब कुछ प्रेम है, अज्ञान और अहंकार केवल व्यर्थ छायाभास हैं और उन्हें तितर-बितर किया जा सकता है।

और सभी वस्तुओं के ऊपर तेरी परम शान्ति, उर्वर अचञ्चलता फैलती है। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १, पृ. १००

सम्पादकीय : प्रकृति को सामान्यतया एक यान्त्रिक अचेतन शक्ति माना जाता है जो सृष्टि में हर एक वस्तु को सञ्चालित करती है। यह माना जाता है कि 'प्रकृति' के बारे में आद्योपान्त अध्ययन तथा जानकारी के द्वारा हम सब कुछ जान सकते हैं, सब कुछ समझ सकते और सब पर प्रभुत्व पा सकते हैं। जब कि अगर हम ज़रा-सी गहराई में उतर कर 'प्रकृति' के तरीक़ों को देखें तो हमें इस बात के बारे में निश्चित होने में क्षण-भर का समय भी न लगेगा कि यान्त्रिक और अचेतन तो बहुत दूर की बात है, 'प्रकृति' के अन्दर और इसके पीछे तो पूरी तरह से सचेतन एक 'परमा शक्ति' कार्यरत है जिसे लक्ष्य का पूर्वानुमान है और जो निरन्तर उसी की ओर बढ़ती जा रही है।

इस अंक में हम श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ की कृतियों के विशाल और ब्योरेवार आध्यात्मिक ज्ञान की सहायता द्वारा 'प्रकृति' की इस गभीरतर तथा गूढ़ क्रियावली के कुछ पहलुओं को समझने का प्रयास करेंगे।

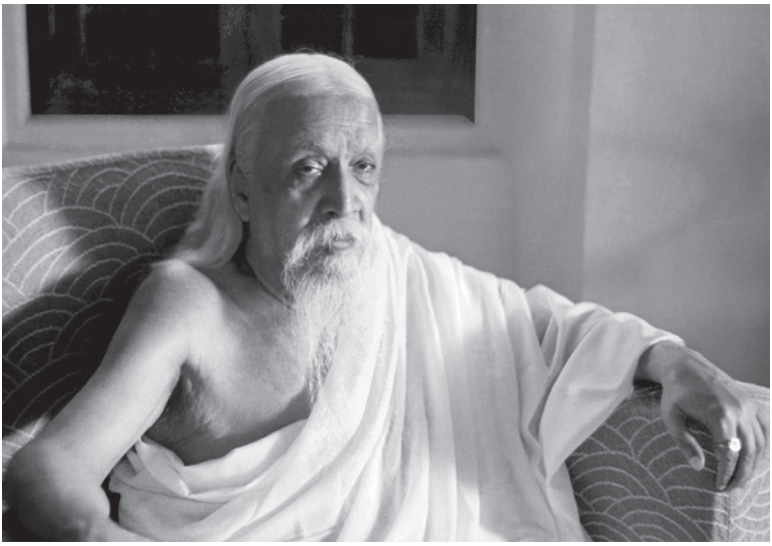

... धरती 'परम प्रभु' से अनुनय करती है कि वे संसार में सब जगह अपना राज्य फैलाएँ और कृतज्ञता, पूजा और आनन्द के गीत गाती हुई उन पदचिह्नों की याद की सुखद ऊष्मा को फिर से ताज़ा करती है जो मैंने पृथ्वी पर पीछे छोड़े और जो अणुओं का रूपान्तर करते हैं। सारी वसुधा, इसकी शिलाएँ, धूलिकण, पवन और पानी—वह सब कुछ जिससे यह दुनिया बनी है—एक पुनर्जन्म के लिए याचना कर रहे हैं ताकि इस 'नयी चेतना' के हर्षोल्लास में भाग लेकर नये सिरे से पनप सकें, खिल सकें।

'परम' पुस्तक से, पृ. ६६ **मोना सरकार**

क्या है प्रकृति

अन्तरस्थ ईश्वर तथा प्रकृति के रहस्य

जब व्यक्ति समझ जाता है, जब उसका पथ-प्रदर्शन उन आन्तरिक क्षेत्रों की ओर किया जाता है जहाँ भगवान् का एक भाग बसता है, तब वह न केवल दूसरे लोकों के रहस्यों को देखता है बल्कि इस जगत् के रहस्य भी उसके सामने उद्घाटित हो जाते हैं और वह 'प्रकृति माता' के अस्तित्व के सत्य को भी समझ सकता है—यह समझ सकता है कि 'प्रकृति' कैसे कार्य करती है, कैसे सृजन करती है, कि वह प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक वस्तु में प्रगति का बीज कैसे बो देती है... ताकि प्रत्येक अपने ही व्यक्तिगत तरीक़े से पूरी तरह खिल कर उन 'भगवान्' से जुड़ जाये जो हर जीव के मूल में विद्यमान हैं।

यही कारण है कि विश्व की प्रत्येक, प्रत्येक चीज़ में हम उस 'भागवत प्रकाश' की चिनगारी देख सकते हैं जो सभी चराचरों को जीवन प्रदान करता है।

यही चीज़ देती है बने रहने, सृजन करने, गुणन करने, रूप तथा आकार देने, विकसित करने का उत्साह तथा ऊर्जा और साथ ही एक नये स्तर की ओर खिलने तथा एक नये प्रकाश की ओर खुलने की शक्ति—इस संसार में 'प्रकृति' इसी कार्य में जुटी हुई है... प्रत्येक अणु-परमाणु में छिपे 'भगवान्' को पुनः प्राप्त करना...

प्रभु ने अपने-आपको अपनी सृष्टि में पूरी तरह से उँडेल दिया है—सृष्टि का कण-कण उन्हीं की 'उपस्थिति' से स्पन्दित होता है, उन्हीं में साँस लेता है, उन्हीं के 'प्रकाश' से भरा हुआ है और उन्हीं के 'प्रेम' में विकसित होता है।

संसार की विविधता में हमें 'उन्हें' ही उनकी अनेकता में पुनः प्राप्त करना है।...

Throb of Nature पृ. ३ **मोना सरकार**

ध्यानरत प्रकृति

प्रेम की गति मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है और सम्भवतः मानवजाति

की अपेक्षा अन्य सृष्टियों में कम विकृत है। पुष्पों और वृक्षों को देखो। जब सूर्य अस्त होता है और सब कुछ नीरव हो जाता है, तब क्षण-भर के लिए बैठो और अपने-आपको प्रकृति के साथ एक कर दो : तुम अनुभव करोगे कि पृथ्वी से, वृक्षों की जड़ के नीचे से प्रगाढ़ प्रेम और कामना से पूर्ण एक अभीप्सा ऊपर उठ रही है और यह अभीप्सा ऊपर की ओर बढ़ती हुई तथा वृक्षों के तन्तुओं में से सञ्चार करती हुई उनकी उच्चतम शाखाओं तक में उठ रही है—उस वस्तु के लिए कामना जो प्रकाश लाती और सुख फैलाती है, उस प्रकाश के लिए जो चला गया है, जिसे वे वापस चाहते हैं। उनमें यह चाह इतनी पवित्र और तीव्र होती है कि यदि तुम वृक्षों में होने वाली गति को अनुभव कर सको तो तुम्हारी अपनी सत्ता भी उस शान्ति, उस प्रकाश और प्रेम के लिए हार्दिक प्रार्थना करने लगेगी जो अभी तक यहाँ अभिव्यक्त नहीं है। एक बार भी यदि तुम इस विशाल, विशुद्ध और सच्चे दिव्य प्रेम के संस्पर्श में आ जाओ, यदि तुम थोड़ी देर के लिए भी इसके लघुतम रूप का ही अनुभव कर पाओ, तो तुम यह अनुभव कर लोगे कि मनुष्य की वासना ने इसके स्वरूप को कितना नीच बना डाला है। मानव-प्रकृति में यह क्षुद्र, पाशविक, स्वार्थमय, हिंसक और कुरूप हो गया है, या फिर यह दुर्बल और भावुक, अत्यन्त तुच्छ भावों से भरा हुआ, क्षणभंगुर, बाहरी और शोषक बन गया है। और इस नीचता और पशुता को अथवा इस स्वार्थ से भरी हुई दुर्बलता को लोग प्रेम कहते हैं!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ८१-८२

प्रकृति की क्रियावली के पीछे

जब व्यक्ति आन्तरिक अन्तर्दर्शन पा लेता है जिसके द्वार हमारी सत्ता के अन्दर खुलते हैं और वह चीज़ों के पीछे के सत्य को देखने लगता है तब वह पाता है कि जड़-भौतिक जगत् में भी कितनी ही ऐसी चीज़ें हैं जो हमारी सामान्य दृष्टि से बच निकलती हैं। यहाँ तक कि हम सूक्ष्मदर्शी यन्त्र या दूरबीन से देखते हैं या आधुनिक फ़ोटोग्राफ़ी के ज़रिये हम जिन चीज़ों की अद्‌भुत प्रतिकृति तैयार करने में सक्षम हो जाते हैं, ये सभी चीज़ें बस प्रकृति के रहस्यों की खोजों की ओर पहले चरण हैं। मानव-निर्मित कोई भी मशीन प्रकृति की क्रियावली के पीछे की चीज़ों का वर्णन नहीं

कर सकती। प्रकृति अपनी छोटी-से-छोटी क्रिया में, अपनी पूर्णता में इतनी मोहक है, इतनी विविध है, इतनी सूक्ष्म और इतनी भव्य है कि हम अपने इस तुच्छ मस्तिष्क के द्वारा कभी उसका वर्णन नहीं कर सकते।

और मनुष्य सोचता है कि अपनी मशीनों और खोजों के सहारे वह प्रकृति की क्रियाओं में सुधार ला सकता है, भौतिक क्षेत्र में उसने जो कुछ उपलब्ध किया है उसके द्वारा वह वैज्ञानिक तरीक़े से प्रकृति की क्रियाओं को बदल भी सकता है। उसके अन्दर यह सोचने और मानने का दुःसाहस है कि अपने सूत्रों, अपनी अनुभूति के प्रकारों और अपनी खोजों द्वारा वह 'प्रकृति' पर शासन कर सकता है और जो उसे 'प्रकृति' की क्रियावलियों और उसके सर्जनों पर विजय दिला सकता है... कैसी बेवक़ूफ़ी, कैसा पागलपन!... कैसी तुलना!

मनुष्य 'प्रकृति' की उस क्षमता का एक कोना तक न छू पाया है जो अनन्त को आलिंगन में भरे रखती है, और वह दावा करता है कि वह 'प्रकृति' पर शासन करता है—देखो तो सही, मनुष्य और उसके अहंकार का अक्खड़ दम्भ, उसकी ये व्यर्थ की शेख़ियां तो सचमुच उसके लिए एक असाध्य बीमारी हैं जिसके शिकंजे में वह बुरी तरह जकड़ा रहता है और ये उसे कुतर-कुतर कर उसके सच्चे अस्तित्व को ही नष्ट करने पर उतारू रहती हैं!... और फिर भी, वह प्रकृति पर हावी रहने को बेताब रहता है, उस पर शासन करने की ज़बरदस्त इच्छा रखता है; लेकिन वह जिस रास्ते को अपनाता है वह बहुत अधिक समय लेगा और लक्ष्य तक पहुँचने में उसे बहुत सारे घुमावदार रास्तों से गुज़रना होगा।

Blessings of the Grace पृ. ७७-७८ **मोना सरकार**

प्रकृति का हर्षोल्लास

उदाहरण के लिए, व्यक्ति जब अकेला हो या किसी ऐसे साथी के साथ हो जिससे उसका पूरा सामञ्जस्य हो, वह ऐसे स्थानों पर घूमने जाये जहाँ उसका गुज़रना कम ही होता हो या जो देहात के एकदम अछूते प्रदेश हों, जो मानव-वातावरण से बिगड़े नहीं हों, जहाँ प्रकृति शान्त, विशाल, अभीप्सा के जैसी शुद्ध, प्रार्थना-जैसी पवित्र हो; पहाड़ों पर, वनों में, स्वच्छ सरिताओं के किनारे या अपार समुद्र के तट पर घूमने जाये तो एक सूक्ष्म-सी, मधुर

और गहरी अनुभूति होती है। जब तक प्राण वैयक्तिक रहता है, तब तक इस आनन्द की अनुभूति तभी होती है जब अमुक बाह्य परिवेश मिले। दूसरी ओर, जब प्राण सचमुच निर्वैयक्तिक हो, वैश्व बन जाये तो *व्यक्ति स्वयं, उन लोगों के अन्दर जो इसे अनुभव करते हैं, यह आनन्दमय हर्ष बन जाता है;* इसका रस लेने के लिए अमुक विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों से घिरे रहने की ज़रूरत नहीं रह जाती।

स्नायविक लोक में तो व्यक्ति पूरी तरह परिस्थितियों से मुक्त रहता है। व्यक्ति मोक्ष पा लेता है।

*

मैंने लहरों की आवाज़ सुनी और उसने मुझे बहुत-सी अद्‌भुत बातें बतलायीं। उसने मुझे जीवन के हर्ष और गति के आनन्द के बारे में बतलाया। हे सागर, एक अनन्त और चिर नूतन गान में तुमने मुझे फिर से, सभी चीज़ों को सत्य बनाने वाली प्रेम की शक्ति के बारे में बतलाया। तुम्हारी अजेय क्रिया की भव्यता का चिन्तन करते हुए मैंने उस अबाध तरंग का दर्शन किया जो विश्व को परम सद्वस्तु की ओर ले जाती है। जो शक्ति तुम्हें उठाती और तुम्हारी सतह को पहाड़ों की तरह ऊँचा कर देती है वह उस शक्ति की न्याईं है जो संसार को उसके तमस् में से उठाती और उसमें भगवान् के लिए अभीप्सा जगाती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १३५-३६

प्रकृति की शक्तियाँ

यह भी कहा जाता है कि प्रकृति की शक्तियाँ अन्धी और उग्र होती हैं। लेकिन बात ऐसी बिलकुल नहीं है! मनुष्य अपने सापेक्ष अनुपातों के आधार पर 'प्रकृति' के बारे में ऐसा निर्णय कर बैठता है। ज़रा ठहरो, एक उदाहरण लें। जब भूकम्प आता है तो बहुत-से टापू पानी में डूब जाते हैं और लाखों आदमी मर जाते हैं। लोग कहते हैं: "यह प्रकृति दैत्य है।" मानवीय दृष्टि से यह 'प्रकृति' दैत्य है। उसने किया क्या? वह एक विभीषिका ले आयी। लेकिन ज़रा देखो, ज़रा कूदने या दौड़ने या ऐसा ही कुछ करने में जब तुम्हें अच्छी चोट लग जाये तो तुम काले, नीले हो उठते हो। हमारे कोषाणुओं के लिए यह ऐसी ही चीज़ है जैसे भूकम्प।

तुम बहुत सारे कोषाणुओं को नष्ट कर देते हो! यह अनुपात का प्रश्न है। हमारे लिए, हमारी छोटी-सी चेतना के लिए, बहुत ही छोटी चेतना के लिए यह बहुत भयानक चीज़ मालूम होती है, लेकिन आख़िर तो यह धरती पर (विश्व में भी नहीं), किसी जगह अस्त-व्यस्तता ही है। हम केवल धरती की बात कर रहे हैं। यह क्या है? कुछ भी नहीं, विश्व के अन्दर एक ज़रा-सा खिलौना। और अगर हम इस विश्व की बात करें तो लोकों का ग़ायब हो जाना भी क्या है?—बस, ज़रा-सी अस्त-व्यस्तता। यह कुछ भी नहीं है।

अगर हो सके तो हमें अपनी चेतना को विस्तृत बनाना चाहिये।

मेरी जान-पहचान का एक व्यक्ति था जो अपनी चेतना को विस्तृत करना चाहता था। उसने एक तरकीब खोज निकाली थी। वह रात को, खुले में लेट जाता और तारों को देखा करता था, उनके साथ तादात्म्य करने की कोशिश करता था और विशाल जगत् की गहराई में चला जाता था और इस तरह अनुपात का भाव पूरी तरह खो देता था। वह धरती और उसकी सभी छोटी-मोटी चीज़ों की व्यवस्था भूल कर आकाश के जैसा विशाल बन जाता था—तुम इसे विश्व के जैसा विशाल नहीं कह सकते क्योंकि हम विश्व के एक छोटे-से टुकड़े को ही देखते हैं, लेकिन वह तारों-भरे आकाश जैसा विशाल बन जाता था। और तब, जानते हो, सामयिक रूप में सभी छोटी-मोटी अपवित्रताएँ झड़ जाती हैं और तुम चीज़ों को एक बड़े पैमाने पर समझ सकते हो। यह एक बड़ी अच्छी कसरत है।

दोनों बहुत अच्छी कसरतें हैं। दोनों में तुलना करने की कोशिश करो तब तुम देखोगे: तुम एक सड़क पर चल रहे हो। चींटियों की एक सेना एक बिल से दूसरे बिल की ओर जा रही है (तुम किसी से बातें कर रहे हो और नीचे नहीं देखते); बड़ी लापरवाही से तुम एक पैर रखते हो, फिर दूसरा, और तुम जाने बिना ही सैकड़ों चींटियों को मार डालते हो। अगर तुम चींटी होते तो कहते: "क्या ही दुष्ट और पाशविक शक्ति है यह!" तुम सिर्फ़ चल रहे हो, तुमने ध्यान नहीं दिया। और मान लो, ऐसी सत्ताएँ हैं जिनके लिए हम केवल छोटी-छोटी चींटियों के समान हैं! वे एक पाँव रखती हैं, फिर दूसरा, और लाखों आदमी मर जाते हैं। उन्हें इसकी ख़बर तक नहीं होती! उन्होंने यह जान-बूझकर नहीं किया है। वे बस चल रही थीं। बस, इतना ही। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ५, पृ. १६७-६९

हमेशा यही कहा जाता है कि जब कोई सृष्टि अपनी अधिकतम सम्भावना तक पहुँच जाती है तो उसे पूर्णता कहते हैं; पर यही पूर्णता नहीं है! और ठीक यही वह भावना है जिसका मैं प्रतिवाद करती हूँ। यह सब प्रगति का एक पग है। अर्थात्, 'प्रकृति' के पास जो कुछ होता है उसकी चरम सीमा पर पहुँच कर जब वह देखती है कि वह और आगे नहीं बढ़ सकती, और अधिक नहीं हिल सकती तो वह सब कुछ नष्ट कर देती है और फिर से आरम्भ करती है। इसे पूर्णता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्णता का विनाश नहीं किया जा सकता। पूर्णता केवल तभी आयेगी जब 'प्रकृति' जो कुछ आरम्भ कर चुकी है उसे फिर नष्ट न कर सके। अभी तक ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जिसमें उसने जो कुछ आरम्भ किया था उसे यह समझ कर नष्ट न कर दिया हो कि यह पर्याप्त नहीं था या वह जो कुछ करना चाहती थी वह नहीं था। अतएव, यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपनी सृष्टि में पूर्णता प्राप्त कर ली है। उसने जो कुछ किया है उसे यदि विनष्ट करने की आवश्यकता न पड़े तभी उसे अधिकतम कहा जा सकता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १८

प्रकृति के तरीक़े

उस अर्थ में नहीं जिसमें मनुष्य "जान-बूझकर" समझते हैं। पर निश्चित ही यह उसके अभिप्राय और लक्ष्य की अभिव्यक्ति है जिसकी ओर व्यक्ति जा रहा है। सब कुछ निर्भर करता है चेतना के परिमाण पर। मनुष्य के लिए यह अस्तव्यस्तता-सी है, क्योंकि वह केवल ब्योरे देख सकता है और यह समय का बहुत अधिक अपव्यय लगता है, क्योंकि उसके लिए समय का विचार उसके व्यक्तित्व की अवधि तक सीमित है। लेकिन 'प्रकृति' के सामने तो अनन्त काल है। और अपव्यय भी उसके लिए समान ही है, क्योंकि वह उस व्यक्ति की तरह है जिसके सामने एक बड़ा कड़ाहा है; वह चीज़ों को उसमें डाल कर मिलाती है और सफल न हो तो सब कुछ निकाल फेंकती है, क्योंकि वह जानती है कि उन्हीं चीज़ों को वापस लेकर वह कोई और मिश्रण तैयार कर लेगी। चीज़ ऐसी ही है। कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता, वह सारे समय फिर-फिर काम आता रहता है। रूप तोड़े जाते हैं और पदार्थ वापस ले लिया जाता है। हमेशा इसी तरह चलता रहता है। चीज़ बनती है, बिगड़ती है, उलट-फेर होती है—वह चाहे तो लाखों बार परीक्षण करती रहे! इस सबसे उसे क्या नुक़सान हो सकता है? क्योंकि इसमें उसके कार्य को छोड़ कर और किसी चीज़ का अपव्यय नहीं होता। काम ही उसका सुख है। बिना काम के उसका अस्तित्व ही न रहेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३७७

शक्तियाँ तथा सत्ताएँ

उदाहरण के लिए, आँधी को लो जो चला करती है। वैज्ञानिक तुमसे कहेंगे: "आँधियाँ प्रकृति की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं और अमुक-अमुक घटनाओं का परिणाम हैं।" वे गरमी और ठण्ड, ऊँचे और नीचे आदि की बात करेंगे और तुमसे कहेंगे: "आँधी चलने का यह कारण है; ये वातावरण में पैदा होने वाली हवा की लहरें हैं।" लेकिन बात ऐसी नहीं है। उनके पीछे सत्ताएँ होती हैं। वे इतनी बड़ी हैं कि उनका रूप हमसे बच निकलता है। यह ऐसा ही होगा जैसे किसी चींटी से कहा जाये कि

मनुष्य के रूप का वर्णन करे—वह न कर पायेगी, कर पायेगी क्या? वह अधिक-से-अधिक छोटी उँगली की छोटी-सी पोर को देखती है और पैर पर चलती है—यह एक लम्बी यात्रा है और वह यह न जान पायेगी कि मनुष्य का आकार कैसा होगा। तो यहाँ भी वही चीज़ है। ये शक्तियाँ जो आँधी, मेह, भूकम्प आदि ले आती हैं, अभिव्यक्तियाँ हैं—चाहो तो संकेत कह लो इन्हें—इस प्रकार की सत्ताओं की गतियों की अभिव्यक्तियाँ हैं जो भयावह रूप से भीमकाय हैं। हम मुश्किल से ही उनके पैर का अन्तिम सिरा देखते हैं और उनके विस्तार का अन्दाज़ा नहीं लगा सकते।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४२१

माँ, एक अन्तिम प्रश्न : कल खेल-कूद का दिन है। इसलिए...

लेकिन जानते हो, बादलों में, हवा में छोटी-छोटी सत्ताएँ होती हैं। ये सत्ताएँ प्राण के क्षेत्र की हैं; वे पूर्ण रूप से दुष्ट नहीं होतीं, वे बहुधा बहुत नटखट होती हैं। अधिकतर वे 'प्रकृति' के विशाल और सामान्य नियमों का पालन करती हैं, लेकिन ऐसी कुछ सत्ताएँ हैं जो अर्ध-स्वतन्त्र होती हैं और जिनके कारण स्थानीय वर्षा होती है, इत्यादि। शायद (मैं कह चुकी हूँ कि इन छोटी सत्ताओं को प्रार्थनाएँ बहुत अच्छी लगती हैं), शायद अगर हम उनसे कहें : "मैं तुमसे विनती करता हूँ, थोड़ी-सी दया करो, कल हमारा उद्घाटन है, शरारत मत करना। अगर बरसने की इच्छा हो तो शाम तक ठहर जाओ, आकर हमारे छोटे-से अधिवेशन में बाधा मत डालो," तो शायद कुछ असर हो जाये!

तुम्हें याद है, जब वर्षा का अभाव था तब लोगों ने हमसे कहा था कि अगर हम प्रार्थना करें तो वर्षा होगी? और उस दिन हमें यह कोशिश कर देखने में ख़ूब मज़ा आया था—वर्षा को बुलाने में—फिर वर्षा हुई थी, याद है? बाद में सचमुच वर्षा हुई थी। हाँ तो, बात ऐसी है। यह प्राण का क्षेत्र है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २३०

प्रकृति पूर्व-दृष्टि रखती है

'प्रकृति' काफ़ी पूर्व-दृष्टि रखती है। वह हर जगह की जलवायु में ऐसी चीज़ पैदा करती है जो उसके अनुकूल हो। निस्सन्देह, तुम्हें मनुष्य को केन्द्र में रख कर यह न कहना चाहिये कि 'प्रकृति' ने यह मनुष्य के भले के लिए किया है, मुझे नहीं लगता कि यह ऐसा है, क्योंकि मनुष्य के धरती पर प्रकट होने से बहुत पहले ही वह ये सब आविष्कार कर चुकी थी। लेकिन यह एक तरह का सामञ्जस्य है जो प्रकृति ने देशों की जलवायु और वहाँ के उत्पादन में स्थापित किया है। जैसा कि देखा गया है, देश की विशालता और उसमें रहने वाले जानवरों के आकार में एक सामञ्जस्य होता है। उदाहरण के लिए, भारत के हाथी अफ़्रीका के हाथियों से बहुत छोटे होते हैं। कहते हैं कि इसका कारण यह है कि अफ़्रीका में खुली जगहें बहुत विशाल हैं, इसलिए वहाँ के जानवर भी बहुत बड़े-बड़े हैं।

यह प्रकृति की ओर से सृष्टि में स्थापित सामञ्जस्य है। जैसे-जैसे देश छोटे होते हैं, वह इलाक़ा छोटा होता है जहाँ ये जानवर रहते हैं, वैसे-वैसे जानवर भी छोटे होते जाते हैं। यहाँ तक कि जब खुले मैदानों में और उनके आकारों में अनुपात नहीं रह जाता तो वे बिलकुल लुप्त हो जाते हैं। अगर तुम बहुत सारे मकान बना लो तो स्वाभाविक है कि फिर रीछ नहीं रहेंगे, भेड़िये नहीं रहेंगे; पहले सिंह और बाघ लुप्त होते हैं, लेकिन मेरा ख़याल है कि इसमें आदमी का हाथ है...। भय मनुष्यों को बहुत अधिक विनाशकारी बना देता है। जैसे-जैसे आदमियों का जमघट बढ़ता जाता है, खुले मैदान कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे पशुओं की जातियाँ कम होती जाती हैं। तो फिर हम नियम कैसे बना सकते हैं?

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ५७-५८

प्रकृति के साथ सम्पर्क साधना

अगर व्यक्ति प्रकृति के साथ सम्पर्क साध सके तो वह जीवन के कई ऐसे रहस्यों को जान सकता है जो बहुत उपयोगी हो सकते हैं। व्यक्ति न केवल पहले से जान सकता है बल्कि बीमारियों पर भी वह नियन्त्रण पा सकता है या महाप्रलय अथवा प्रकृति के विध्वंसों को भी टाला जा सकता है। तो देखो, इसके बहुत-से लाभ हैं।

सम्पर्क साधने का अर्थ है, प्रकृति के अन्दर बसे उस परम सामञ्जस्य के हर्ष में एक समझ को ढूँढ़ निकालना जो समस्त अस्तित्व के ऊपर विराजमान है और उसी सामञ्जस्य की चेतना द्वारा स्पन्दित होना। इसे खोजना सचमुच कष्ट उठाने-लायक़ काम है। यह तो सारे जीवन का कार्य है।

इस चेतना को पा लो, साथ ही इस सूक्ष्म जगत् के साथ सम्पर्क साधने के हर्ष को भी प्राप्त कर लो। नीरवता में ही व्यक्ति सम्पर्क साध सकता और एक सूक्ष्म आदान-प्रदान के द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता है। यह पूरी तरह से एक दूसरी ही भाषा है जिसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, यानी, जैसे कि हम बातचीत करते हैं, लेकिन यह लघु तथा यथार्थ अभिव्यक्ति होती है और हमारी भाषा से कहीं अधिक समझ में आने वाली वस्तु है यह।...

Throb of Nature पृ. ४ **मोना सरकार**

सहयोग

हमेशा सहायता के लिए तत्पर और उसे ज्ञात है कि सहायता कैसे की जाये।

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ तथा व्याख्या)

वानस्पतिक नाम:

Dianthus caryophyllus

प्रकृति के ज्वार-भाटे

साधारण तौर पर यह विश्वास किया जाता है कि प्रकृति में सभी वस्तुएँ सर्वदा बुरे रूप में समाप्त होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति उन लोगों की कहानी जानता है जो अपने जीवन में महान् सफलता का उपभोग करने के बाद शोचनीय अन्त को प्राप्त हुए, उन लोगों की कहानी जानता है जिनमें असाधारण क्षमताएँ थीं और जिन्होंने अन्त में उन्हें खो दिया; उस राष्ट्र की कहानी जानता है जो दीर्घकाल तक एक अद्‌भुत सभ्यता का उदाहरण था —सभ्यता लुप्त हो जाती है और राष्ट्र एक ऐसी शोचनीय वस्तु में बदल जाता है कि कोई याद भी नहीं कर पाता कि वह पहले क्या था। ऐसा लगता है कि पृथ्वी का इतिहास ऐसी जीतों की कहानी है जिनके बाद हारें आती हैं, ऐसी हारों की कहानी नहीं जिनके बाद जीतें आती हैं।

परन्तु वास्तव में, जब कभी वैश्व और दिव्य वस्तुओं का प्रश्न उठता है तब विराट् दर्शन-शक्ति तथा दिव्य ज्ञान-शक्ति की आवश्यकता होती है ताकि यह जाना जा सके कि सत्य अपने-आपको किस प्रकार अभिव्यक्त करता है। संसार में एक प्रकार की व्यापक निराशावादी दृष्टि है जो कहती है कि वस्तुएँ अच्छे रूप में भले शुरू हों पर समाप्त बुरे रूप में ही होती हैं, दुर्बलता, धूर्तता, मिथ्याचार और दुष्टता का ही सर्वदा बोलबाला रहता है। यही कारण है कि जिन लोगों ने संसार को अपने निजी व्यक्तिगत आयाम के अन्दर देखा है उन्होंने कहा है कि संसार बुरा है और जितनी जल्दी सम्भव हो हमें उसमें अपना काम समाप्त कर देना चाहिये और उससे बाहर निकल जाना चाहिये। गुरुओं ने यह शिक्षा तो दी है, परन्तु उनकी शिक्षा केवल यही सिद्ध करती है कि उनकी दृष्टि अत्यन्त संकीर्ण है तथा उनके मानवीय व्यक्तित्व के आयाम से सीमित है।

वास्तव में, प्रकृति की गतियाँ ज्वार-भाटे की तरह होती हैं : वे आगे बढ़ती हैं, फिर पीछे हटती हैं, आगे बढ़ती और पीछे हटती हैं; इसका अर्थ होता है, वैश्व जीवन में और पार्थिव जीवन में भी उत्तरोत्तर प्रगति, यद्यपि ऊपर से देखने में यह प्रगति पीछे के हटाव से कट जाती है। परन्तु ये पीछे के हटाव केवल बाहरी रूप हैं, ठीक जैसे व्यक्ति आगे कूदने के लिए पीछे हटता है। तुम पीछे हटते हुए प्रतीत होते हो पर वह केवल और आगे जा सकने के लिए होता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २६-२७

अपने-आपको प्रकृति के हवाले कर दो

... अगर व्यक्ति अपने-आपको पूरी तरह प्रकृति के हवाले करना सीख ले, अगर वह उसके कार्य का प्रतिरोध न करे तो वह कभी बीमार नहीं पड़ेगा। प्रकृति के अपने तरीक़े होते हैं और अगर व्यक्ति भय से या सिकुड़ कर उसके काम में बाधा न डाले तो वह तुम्हें चमत्कारिक रूप से बहुत जल्दी भला-चंगा कर देगी। व्यक्ति को प्रकृति की ताल के साथ चलना सीखना होगा; तब वह तुम्हें बड़ी सावधानी से ख़तरों के पार ले जायेगी।

व्यक्ति को प्रवाह के साथ स्वयं को बहने देना सीखना होगा—लहरें उसे बड़ी कोमलता के साथ उसके अन्तिम लक्ष्य तक सावधानी के साथ पहुँचा देंगी।

... अपने-आपको छोड़ देना, अपने-आपको उसकी बाँहों में समा जाने देना, मानों तुम लहर के ऊपर चले जा रहे हो..., तब कठिनाइयाँ और ख़तरे पूरी तरह से ग़ायब हो जाते हैं। यह ऐसा है मानों तुम स्वयं को छोड़ रहे हो—पूरी तरह से खुले हुए हो—मानों बड़े आराम से बहे चले जा रहे हो।... इस अवस्था में *(भंगिमा)* इस तरह, पीठ पर लेटे हुए, आकाश की ओर देखते हुए; तुम पानी के अन्धकार में नहीं हो, बल्कि प्रकाश की ओर देखते हुए आगे ही आगे सरकते जा रहे हो, तुम स्वयं को प्रकृति माँ के हाथों में छोड़ देते हो ताकि वह तुम्हारा मार्ग-दर्शन कर सके।...

जब हम ऐसा करते हैं तो ऐसा कोई भी दर्द नहीं जो हमारा स्पर्श कर सके।

Throb of Nature पृ. १३९ **मोना सरकार**

'प्रकृति' उस सर्जक शक्ति का सबसे अधिक भौतिक भाग है जो सर्जन में लगी है, विशेष रूप से पृथ्वी के सर्जन में, जिसे हम पृथ्वी पर भौतिक जगत् के रूप में जानते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १७९

जब तुम लड़ते हो तो उसका मतलब है युद्ध। छोटे युद्ध होते हैं और बड़े युद्ध होते हैं। धरती पर मनुष्यों का यह युद्ध है क्या? अगर उन दानवों की दृष्टि से देखा जाये जिनके लिए मनुष्य चींटी से बढ़ कर नहीं हैं...। जब तुम चींटियों का युद्ध देखते हो तो वह तुम्हें बिलकुल स्वाभाविक लगता है! तुम उसे बड़ी दिलचस्पी के साथ देख सकते हो और कह सकते हो: "देखो, चींटियाँ लड़ रही हैं।" हाँ, तो विश्व की दानवी शक्तियों के लिए धरती पर युद्ध करते हुए मनुष्य लड़ती हुई चींटियों जैसे हैं, यह कुछ भी नहीं है। तुम्हें चीज़ों का मूल्यांकन मानवीय चेतना के माप से नहीं करना चाहिये...। मनुष्य के लिए प्रकृति विकराल वस्तु है। वह अत्यन्त विकट है। सभी शक्तियाँ उसकी सेवा में हैं, सभी क्रियाओं की सृष्टि वही करती है। और हम बस उतना ही जानते हैं जो इस धरती पर हो रहा है! तुम प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, एक प्रकार के अनुमानात्मक ज्ञान से यह जानते हो कि बाक़ी विश्व में क्या हो रहा है। ये मानवीय चेतना के अनुपात में विकट और विकराल शक्तियों की क्रीड़ाएँ और संघर्ष हैं। ये ऐसी चीज़ें हैं जो मानवीय अवधि की तुलना में अनन्त काल तक रहती हैं। तो ये काल में विशाल हैं, देश में विशाल हैं और मानवीय चेतना के लिए ये लगभग अबोधगम्य हैं। लेकिन इन शक्तियों के लिए मानवीय आकार और गतियों का सचमुच वही अनुपात है (शायद उससे भी कम) जो हमारे लिए चींटियों के झुण्ड का है; वही चीज़ है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २९३-९४

प्रकृति के विभिन्न पहलू

परमाणुओं की गहराई में

इन परमाणुओं के ठीक केन्द्र में मैंने एक ज्वाला प्रज्वलित कर दी है जो एक कम्पन के साथ उठती है, मानों एक धड़कन हो, निश्चेतन की यह जड़-भौतिक राशि, जो शक्तियों की एक पेंचदार गतिहीनता में बन्दी है, मानों अज्ञान की अन्धकारमयी अनन्तता में फँसी है—इसमें मैंने एक प्रकाश भर दिया है। इस जगत् में पहले कुछ नहीं था। जड़-भौतिक के इन अन्धे क्षेत्रों में यह ज्वाला निस्पन्द और मूक पड़ी थी, इसमें कोई जीवन ही नहीं था, नींद से भरी यह गहरी निष्क्रियता में डूबी हुई थी; और फिर इसमें एक स्पन्दन जागा, उसे 'परम संकल्प' ने जन्म दिया था, तब जड़-भौतिक काँप गया, रोमाञ्चित हो उठा और उसने परमानन्द में आँखें खोल दीं।

'परम' पुस्तक से, पृ. ६२, ६४ **मोना सरकार**

... पाँच तत्त्वों में से किसी एक को भी बनाने के लिए कितनी आश्चर्यजनक गति से एक आकार से दूसरे में जाते हुए परमाणुओं के ये कण नृत्य और क्रीड़ा करते हैं; अपनी प्रतिलिपि तैयार करने के लिए एक केन्द्र-बिन्दु कैसे स्वयं को विभाजित करता है, कैसे हर एक तत्त्व एक क्रम-व्यवस्था को अपनाता है जो स्वयं उसी की होती है, उसकी अपनी लय-ताल, अपनी स्वयं की भंगिमा होती है जो उसके आकार-प्रकार और उसके व्यक्तित्व को प्रकट करती है।...

परमाणु किस तरह आपस में एक-दूसरे के साथ सञ्चार साधते हैं, अणुओं की इस चकरघिन्नी-जैसी गति में एकदम से कभी कोई भिड़न्त नहीं होती, कोई टकराव नहीं होता, बिजली की गति से एक दूसरे का रास्ता काटते हुए, यहाँ से वहाँ दौड़ते-भागते हुए भी कभी कोई घर्षण नहीं होता, सभी अणु-परमाणु कितनी सामञ्जस्यमयी गति के साथ, एक निर्धारित और निश्चित क्रम-व्यवस्था में आगे बढ़ते ही चले जाते हैं—यह सब देख और समझ सकना अपने-आपमें एक आश्चर्य है।

Blessings of the Grace पृ. ८१-८२ **मोना सरकार**

सागर के प्रति

हे धूसर प्रचण्ड सागर, हे गर्जक,
मेरे लिए देता है तू सन्देश एक।
तेरी भीमकाय तरंगें उठाती हैं
अपनी विशाल विस्तृत पीठें, बनाती हैं
मध्य में खनित दरारों की गहराइयाँ।
मँडराती है उन पर धुँधली नाव एक, शायद ही पड़ती दिखायी।
सुनता हूँ गर्जन तेरा यह कहते, "क्यों तू तट पर
आतंकित दृष्टि के साथ है गया ठहर
देखते हुए शिखरों को मेरे, निज फेन-घुलित गगनों में करते रमण?
नाव एक तुच्छ, मेरी विनष्टकारी तरंगों को झेलती, करती सन्तरण,
जीवन हो या मरण उसे परवाह नहीं,
क्या बहुत-सी और सहस्रों उसके पीछे नहीं आ रहीं?
मेरी चिंघाड़ का करो सामना,
कायरों की भाँति तट के आराम से चिपके न रहना।
उतरो नीचे और जानो
क्या आह्लाद है ख़तरे में, औ' विध्वंस में।"
हाँ, मानता हूँ हे सागर, है तू महान्,
पर मैं हूँ अधिक शक्तिशाली, अधिक तरंगवान।
मैं जानता हूँ तेरे शिखरों से भी ऊपर उठना;
यह तो बहाना है गगनों के साथ खेल खेलना।
मैं लगाता हूँ डुबकी नीचे अन्तस्तल में,
कोलाहल-भरे संसार का मूल ज्ञात करने।
सुरक्षित भूमि पर ठहर जाना
खो बैठना है भगवान् की उस योजना को
बनायी है जो उसने मानव की उस विशाल आत्मा-हित,
जिसने शाश्वत प्रभु को किया है निज लक्ष्य निर्धारित।
इसीलिए की उसने यह व्यूह-रचना
संकट और कठिनाई को बनाया सागरों के समान

पीड़ा औ' पराजय का किया निर्माण
डाल दिया क़दमों के हमारे चहुँ ओर निज महाजाल।
मेघ को वह करता अनुप्राणित देकर दहाड़
और अपने तूफ़ानों से करता हम पर प्रहार,
जिससे मानव हो सके विकसित
बन सके पीड़ा का स्वामी, विध्वंस का विजेता, न कि पराजित
प्रतिकूल भाग्य के विरुद्ध
अपनी महान् अजेय आत्मा के अनुरूप।
कर ले मुझे ग्रहण,
बन जा मेरा पथ स्वर्गारोहण का,
हे कठोर सागर महान्
जकड़ लूँगा तेरा अयाल
हे सिंह, करके अवहेलना तेरी, वश में कर लूँगा तुझे
अन्यथा तेरे लवण के अगाध गह्वर में उतार जाऊँगा,
करूँगा तेरा भार वहन
निज भाग्य के समान अनम्य बन कर।
मैं आ रहा हूँ, हे पारावार,
मापने तेरे साथ निज बृहत् आत्म-विस्तार।

CWSA खण्ड २, पृ. २०७-०८ **श्रीअरविन्द**

यह निहारना कितना सुखद होता है

हम समुद्र की तरंगों को देखते हैं—कभी वे शान्त होती हैं तो कभी उग्र, हमेशा गतिशील रहती हैं, लेकिन फिर भी हमेशा विभिन्नता लिये हुए; निहारो आकाश को, अकल्पनीय आकार लेते हुए उन बादलों को, या उस ठण्डी सुखद वायु का स्पर्श अनुभव करो जो खेत-खलिहानों को चुम्बित करती हुई सरसराहट के साथ गुज़र जाती है, उस बारिश को सुनो जो समान लय-ताल में, मानों एक अनुशासन-तले धरती पर लगातार बरसती जाती है और बीच-बीच में पवन अपने राजसिक ठाठ के साथ बग़ीचों के फूलों के साथ अठखेलियाँ कर प्रसन्न होता रहता है। ये सभी कितने अद्‌भुत दृश्य होते हैं; यह सब इतनी अच्छी तरह से व्यवस्थित होता है और देखने

में कितना भव्य लगता है।

Throb of Nature पृ. १९०

मोना सरकार

धूल के एक कण में

समझ रहे हो, धूल के एक कण में मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना की सभी प्रक्रियाएँ देखती हूँ, छोटी दुनिया में भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के दर्शन हो सकते हैं, सूरज की एक किरण में करोड़ों चिनगारियों का सिंहावलोकन किया जा सकता है और समस्त विश्व के सौन्दर्य और वैभव को देखा जा सकता है।

एक अणु में, परमाणु में, पानी की एक बूँद में... मैं न केवल उनके विचार और लक्षण देखती हूँ बल्कि उस जाति की प्रेरणा, उसके विकास के तरीक़े और प्रत्येक के अस्तित्व का ध्येय—सब कुछ जाना जा सकता है, क्योंकि सभी वस्तुओं में सर्वव्यापी परमेश्वर ही छिपे रहते हैं, वस्तुओं के अन्दर जो हर्ष और आनन्द रहता है और जो वस्तुतः उन्हें प्रेरणा देता और उनके अस्तित्व के सत्य को पुनः प्राप्त करने का उत्साह प्रदान करता है वे वही परमेश्वर हैं जो यह सब करवाते हैं।

मनुष्य अपने ज्ञान के साथ, जो अभी तक सचमुच अज्ञान है, बहुत अकिञ्चन है, बाहरी क्षेत्रों में प्रभुत्व पाने की भाग-दौड़ में वह यह कभी नहीं जान पाता है कि परमेश्वर ही सभी चीज़ों में विराजमान हैं। 'प्रकृति' का स्वामी बनने, पार्थिव अस्तित्व को वश में करने के अपने पागलपन में वह कल्पना में या अपने स्वप्न में भी प्रभु का वरद हस्त नहीं देख पाता...

कुछ भी असम्भव नहीं होगा... किसी भी चीज़ को छोड़ा नहीं जायेगा। व्यक्ति को बस अपनी किसी दूसरी इन्द्रिय के द्वारा वह देखना होगा जो हमारे अन्दर विद्यमान है, समस्त अस्तित्व के रहस्यों को खोजने के लिए उसे कठोर साधना के द्वारा एक क्षमता को विकसित करना होगा।

Throb of Nature पृ. १८९

मोना सरकार

"यहाँ सभी कुछ एक वैश्व खेल है और जब मनुष्य यह बात समझ जायेंगे तब सारा संसार सम्पूर्ण रूप से सामञ्जस्यमय बन जायेगा!"

—श्रीमाँ

वर्षा

मुझे अपने जीवन की एक घटना याद है, यह बहुत पहले घटी थी, लेकिन यह इतनी स्पष्ट और साफ़ है मानों कुछ दिन पहले ही हुई हो। मुझे बुख़ार था और मैं अस्वस्थ अनुभव कर रही थी, तो ताज़ी हवाख़ोरी के लिए घर से निकल कर मैं खेतों में चली गयी। अचानक बारिश शुरू हो गयी, और मैं खेत-खलिहान के बीच एकदम अकेली थी, आश्रय के लिए मेरे ऊपर विस्तृत आकाश फैला हुआ था! आस-पास और कुछ भी नहीं था और मूसलाधार बारिश हो रही थी। और मैं ख़ूब मज़े लूट रही थी, एक बच्ची की तरह उछल-कूद कर रही थी जो सभी चिन्ताओं से मुक्त हो। मैं पूरी तरह से भीग गयी थी, मेरे शरीर से पानी चू रहा था। और मैं बारिश में ही रही ताकि वह मेरे सभी दोषों, सभी दर्दों को धोकर एकदम निकाल बाहर कर दे और अपनी शक्ति और ऊर्जा से मुझे भर दे। मैंने अपने अन्दर एक तरह की शान्ति, सुख-चैन तथा मधुरिमा का अनुभव करना शुरू कर दिया, ठोस रूप में महसूस किया कि वे मेरे अन्दर प्रवेश कर रहे हैं और मेरा शरीर भौतिक रूप से एक अज्ञात हर्ष से स्पन्दित हो रहा था। मेरा सारा बुख़ार, सारी बेचैनी छूमन्तर हो गये, मैं न केवल सामान्य अनुभव कर रही थी बल्कि ऊर्जा और बल से भर गयी थी। आध-घण्टे में मैंने जान लिया कि बारिश क्या नहीं कर सकती। मेरे लिए तो यह सचमुच एक अनुभूति थी।

अगर मनुष्य उस सबका लाभ उठा सके जो 'प्रकृति' उसे भेंट में देती है, अपने मन को बीच में न घसीटे, तो वह कई सारी हानियों, दुश्चिन्ताओं इत्यादि से बच कर सुन्दर और सरल जीवन बिता सकता है। वह फ़लानी और ढिमाकी चीज़ को करने से घबराता है, अपनी मानसिक धारणाओं को तोड़ने की सोच से ही आतंकित हो उठता है और अपनी आदतों और अपने अतीत के सामने हमेशा घुटने टेक देता है। अगर वह भयभीत न हो, अगर उसके अन्दर यह डर न बसा हो—यह ऐसा डर होता है जो उसके अस्तित्व को ही कुतरता रहता है—तो वह एक उदात्त और भव्य जीवन जी पाता। लेकिन... उसकी दयनीय दशा और उसके अभावों के बारे में जितना न बोला जाये उतना ही अच्छा है।...

बारिश उस 'कृपा' की तरह है जिसे प्रभु धरती पर आशीर्वाद बरसाने

और उसे पवित्र करने के लिए भेजते हैं। यही 'प्रकृति' और पशुओं को जीवन देती है। इसके अन्दर शुद्धीकरण की अद्‌भुत क्षमता होती है। जब यह धरती पर उतरती है तब प्रकृति में ऊर्जा सञ्चारित करके इसे जीवन के आनन्द से भर देती है। कितने ही विभिन्न तरीक़ों से यह हमारी सहायता करती है। जैसे ही बारिश होती है, यह वातावरण को एकदम शुद्ध कर देती है; उन सभी नकारात्मक रचनाओं को, जिन्हें हम हवा में फेंकते रहते हैं और उन हानिकारक शक्तियों को, जो हमें नष्ट करने पर हमेशा उतारू रहती हैं, निकाल बाहर कर देती है। यह वातावरण को एकदम स्वच्छ और निर्मल बना देती है और एक तरह से वातावरण को इन सभी अशुद्धियों से धो देती है। साथ ही, वातावरण में ऐसी विरोधी शक्तियाँ भी बसती हैं जो पानी से भय खाती हैं; और जैसे ही बारिश होती है, वे भाग खड़ी होती हैं और अगर भाग न पायें तो पानी में गल जाती हैं। यही कारण है कि वर्षा के बाद सारे वातावरण में एक तरह की शान्ति विराज जाती है।

*

बारिश उसके लिए है जो शुद्ध होना चाहता है।

यह तुम्हारे सभी दोषों, भूलों और अशुद्धियों को धो डालती है। बारिश के अन्दर धरती को, उस पर बसने वाले मनुष्यों को तथा वातावरण को शुद्ध करने की शक्ति होती है। लेकिन तुम्हें बिना किसी डर के, ज़ुकाम हो जाने या बीमार पड़ जाने के किसी भी भय से मुक्त होकर स्वयं को उद्‌घाटित रखना चाहिये। अगर हम ऊपर की 'विशालता' की ओर अपने-आपको खुला रखें और बारिश से स्वयं को पवित्र करने दें तब हमें ठोस प्रमाण मिलता है।

Blessings of the Grace पृ. ५३-५४ **मोना सरकार**

सूर्य और वर्षा से प्रार्थना

(एक विशेष अवसर पर वर्षा रोकने के लिए माँ ने फ़्रेंच में एक प्रार्थना दी थी। हम उस प्रार्थना का फ़्रेंच रूपान्तर भी दे रहे हैं—सं.)

सूर्य से प्रार्थना

O Soleil! Notre ami

Dissous les nuages,
Absorbe la pluie.
Nous voulons tes rayons,
Nous voulons ta lumière,
ô Soleil! Notre ami.

हे सूर्य! हमारे मित्र,
बादलों को छिन्न-भिन्न कर दो,
वर्षा को सोख लो।
हम तुम्हारी किरणें चाहते हैं,
हम तुम्हारा प्रकाश चाहते हैं, हे सूर्य, हमारे मित्र।

वर्षा के लिए प्रार्थना

वर्षा, वर्षा, वर्षा, हम वर्षा चाहते हैं।
वर्षा, वर्षा, वर्षा, हम वर्षा माँगते हैं।
वर्षा, वर्षा, वर्षा, हमें वर्षा की ज़रूरत है।
वर्षा, वर्षा, वर्षा, हम वर्षा के लिए प्रार्थना करते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. २४५

टूटता हुआ तारा

माँ, जब हम किसी टूटते हुए तारे को देखते हैं, तब क्या वह सचमुच कोई विशेष अर्थ रखता है? या फिर यह बस एक अन्धविश्वास है?

जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जो कुछ-न-कुछ विशेष अर्थ न रखता हो, या यह कहें कि जीवन की हर एक परिस्थिति का अर्थ और महत्त्व होता है। आवश्यक है कि तुम अपनी सत्ता में इतने गहरे उतरो कि उसका पता पा लो। जहाँ तक सामान्य व्याख्याओं की बात है, ज़्यादातर ये तथाकथित विश्वास अन्धविश्वास ही होते हैं।

१७ जनवरी १९५१

Blessings of the Grace पृ. १७९-८० **मोना सरकार**

मधुर माँ, कहा जाता है कि यदि कोई टूटता हुआ तारा देखे और उसी क्षण किसी वस्तु की अभीप्सा करे तो वह अभीप्सा उस वर्ष के अन्दर पूरी हो जाती है। क्या यह सच है?

क्या तुम जानते हो कि उसका मतलब क्या है?—अभीप्सा **ठीक उसी समय** स्पष्ट रूप में शब्दबद्ध होनी चाहिये जब टूटता हुआ तारा दिखायी देता हो; और वह बहुत लम्बे समय तक नहीं रहता, है न? हाँ, तो यदि तारे के दिखायी देते-देते कोई अभीप्सा मन में स्पष्ट रूप ले सके तो इसका अर्थ है कि वह **वहाँ** सर्वदा थी, उपस्थित थी, चेतना में सबसे आगे थी—यह बात सामान्य चीज़ों पर लागू नहीं होती, उनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसका सम्बन्ध बस आध्यात्मिक अभीप्सा के साथ है—परन्तु मुख्य बात यह है कि यदि तुम ठीक उसी मुहूर्त अपनी आध्यात्मिक अभीप्सा को स्पष्ट रूप में बोल सको तो इसका अर्थ है कि वह तुम्हारी चेतना के ठीक सम्मुख भाग में है, कि चेतना में उसी का प्राधान्य है। और, अनिवार्यतः, जिस चीज़ की तुम्हारी चेतना में प्रधानता होती है, वह बड़ी तेज़ी से उपलब्ध हो सकती है।

मुझे यह प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हुआ था। बिलकुल यही। जिस क्षण सितारा गिरा, ठीक उसी क्षण चेतना से उछल पड़ा: "अपने शरीर के लिए भागवत एकत्व प्राप्त करना होगा।" बस, उसी मुहूर्त।

और वर्ष के समाप्त होने से पहले ही, वह पूरा हो गया।

परन्तु यह तारे के कारण नहीं हुआ! वह इस कारण हुआ कि मेरी सारी चेतना में उसकी प्रधानता थी और मैं उसके सिवा और कोई बात नहीं सोचती थी, मैं केवल उसी को चाहती थी, केवल उसी का चिन्तन करती थी, केवल उसी के लिए कार्य करती थी। अतएव, जिस कार्य में साधारणतः समूचा जीवन लग जाता है—कहा जाता है कि इसमें कम-से-कम ३५ वर्ष लग जाते हैं!—बारह महीने बीतने से पहले ही वह सम्पन्न हो गया था।

परन्तु इसका कारण यह था कि मैं केवल उसी का चिन्तन करती थी। और, चूँकि मैं केवल उसी का चिन्तन करती थी इसलिए ठीक जिस समय तारा चमका मैं उसे शब्दों में व्यक्त कर सकी—केवल एक अस्पष्ट धारणा नहीं—इस भाँति ठीक-ठीक शब्दों में प्रकट कर सकी: "भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करना होगा", आन्तरिक भगवान् के साथ, वह चीज़ जिसके

बारे में हम बात करते हैं, ठीक वही चीज़ जिसके बारे में हम बात करते हैं।

इसलिए, प्रधान बात वह तारा नहीं है, बल्कि अभीप्सा है। तारा तो केवल एक बाहरी प्रमाण के जैसा है, और कुछ नहीं। परन्तु तेज़ी से उपलब्ध करने के लिए टूटता तारा देखना आवश्यक नहीं है! आवश्यक बात यह है कि सत्ता का सम्पूर्ण संकल्प एक बिन्दु पर एकाग्र हो जाये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २५४-५५

चाँद

क्या तुम चाँद पर जाना चाहते हो?

जी हाँ माँ, अगर कोई गुह्य तरीक़ा हो तो मैं चाँद पर जाना चाहूँगा।

गुह्य? यह इतिहास के जितनी पुरानी बात है—गुह्य तरीक़े से चाँद पर जाना। यह आसान है। कोई भी जा सकता है। कइयों ने इस तरह वहाँ की सैर की है... मैं भी चाँद पर गयी हूँ... क्या तुम जाना चाहते हो?

जी हाँ, माँ... माँ आपको वहाँ क्या मिला?

कुछ नहीं।

माँ, क्या चाँद पर सत्ताएँ हैं?

नहीं, वहाँ कुछ नहीं है। नहीं, चाँद पर कोई सत्ताएँ नहीं हैं...

नहीं, चाँद में मेरी दिलचस्पी नहीं है। मेरी दिलचस्पी यहाँ है, मुझे यहाँ, पृथ्वी पर, कार्य करना है। २४ जून १९६९

चाँद का महत्त्व

(एक बच्चे के बारे में जो पूर्णिमा के दिन जन्मा था, श्रीमाँ ने कहा:)

... इसका अर्थ है कि उसके अन्दर आध्यात्मिक जीवन की ओर झुकाव है, आध्यात्मिक जीवन जीने की उसके अन्दर प्रबल प्रवृत्ति है। चाँद आध्यात्मिक पथ का प्रतीक है... आध्यात्मिक झुकाव का।

३१ मार्च १९६८

Throb of Nature पृ. २२०-२१ **मोना सरकार**

धरती

"भारत आधुनिक मानवता की सभी कठिनाइयों का
प्रतीकात्मक प्रतिनिधि बन गया है।
"भारत पुनरुत्थान की भूमि बनेगा—
उच्चतर और सत्यतर जीवन के पुनरुत्थान का देश।"

और अन्तर्दर्शन स्पष्ट था : वही समान चीज़ जिसने विश्व के इतिहास में धरती को विश्व का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि बना दिया है ताकि मनोयोगपूर्वक एक ही बिन्दु पर कार्य किया जा सके, वही समान चीज़ आज धरती पर घट रही है : भारत धरती की सभी कठिनाइयों का प्रतिनिधित्व करता है, और भारत में ही... यहीं, यहीं पर उपचार मिलेगा। और यही कारण है कि मैंने *'ओरोवील'* की स्थापना की।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *३ फ़रवरी १९६८*

एक दिन श्रीमाँ ने शिष्य से कहा :

... क्या हम जानते हैं कि धरती का अस्तित्व कब से है?

जब हम करोड़ों या अरबों वर्षों की बात करते हैं तो इसका क्या अर्थ होता है?...

तुम जानते ही हो कि पुराकाल में घड़ियाँ नहीं थीं!... यह तो बालक की सरलता के साथ शरीर ने कहा था, "तुम अरबों वर्षों की बातें करते हो, लेकिन तुम उससे क्या नापते हो!"

"... क्या यह निश्चित है कि हम जिसे *एक वर्ष बीत गया* कहते हैं, वह हमेशा समय की उसी समान अवधि को दर्शाता है? क्योंकि इन हाल के सालों में मुझे समय की हमारी सामान्य धारणा की अवास्तविकता का भान हुआ है। कभी-कभी एक मिनट अनन्त लगता है, तो कभी घण्टे या सारा-का-सारा दिन पलक झपकते गुज़र जाता है।"...

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२८ अगस्त १९६८*

सूरज के साथ दोस्ती करो

मैं कुछ ऐसे युवकों को जानती थी जो हमेशा शहरों में ही रहे थे—

शहर में, और वहाँ उन छोटे कमरों में, जैसे कि बड़े शहरों में हुआ करते हैं जहाँ हर एक ठुँसा हुआ रहता है। हाँ, तो वे अपनी छुट्टियाँ देहात में बिताने दक्षिण फ़्रांस में आये थे, वहाँ सूरज काफ़ी तपता है, निस्सन्देह यहाँ की तरह नहीं, लेकिन फिर भी वहाँ गर्मी बहुत पड़ती है (उदाहरण के लिए, जब तुम भूमध्य-सागर के तट की धूप की तुलना पैरिस की धूप के साथ करो तो सचमुच उसमें बहुत फ़र्क होता है), तो, जब वे देहात में घूमने निकले तो पहले कुछ दिनों तक उनके सिर में भयंकर दर्द रहा। वे धूप के कारण बिलकुल बेचैन हो उठे; लेकिन अचानक उन्हें यह विचार आया: "अगर हम सूरज के साथ दोस्ती कर लें तो फिर वह हमें नुक़सान नहीं पहुँचायेगा!" और उन्होंने सूरज के साथ मैत्री और विश्वास का सम्बन्ध जोड़ने के लिए एक तरह का आन्तरिक प्रयास शुरू कर दिया, और जब वे धूप में होते तो सिमट-सिकुड़ कर अपने-आपसे यह कहने की बजाय: "ओह, कितनी गर्मी है, कितनी जलन होती है!" वे कहते: "आहा, यह सूरज कितनी शक्ति, कितने आनन्द और कितने प्रेम से भरपूर है!" इत्यादि, वे यूँ *(संकेत)* खुल गये, और इतना ही नहीं कि अब उन्हें बिलकुल कष्ट न उठाना पड़ा, बल्कि उन्होंने स्वयं को इतना शक्तिशाली अनुभव किया कि उनसे जो भी कहता: "ओह, गर्मी पड़ रही है"—वे यही कहते: "हमारी तरह करो, तुम देखोगे कि यह कितनी भली है।" और वे नंगे सिर, बिना किसी असुविधा के, घण्टों तपती धूप में रह सकते थे। सिद्धान्त वही है।

हाँ, सिद्धान्त वही है। उन्होंने अपने-आपको सूर्य में जो वैश्व प्राणिक शक्ति है उसके साथ जोड़ लिया और उन्हें वह शक्ति प्राप्त हुई जिसने उन सभी चीज़ों को हटा दिया जो उन्हें अप्रिय थीं।

जब तुम देहात में होते हो, पेड़ों के नीचे टहलते हुए स्वयं को 'प्रकृति' के, वृक्षों के, आसमान के, सभी पत्तियों, सभी शाखाओं और वनस्पतियों के बहुत निकट अनुभव करते हो, जब तुम इन वस्तुओं के साथ एक गहरी दोस्ती का अनुभव करते हो और जब तुम उस हवा में साँस लेते हो जो इतनी अच्छी है, जो सभी पेड़-पौधों की सुगन्ध लिये होती है, तब तुम अपने-आपको खोलते हो, खुलते समय वैश्व शक्तियों के साथ तुम्हारा सम्बन्ध जुड़ जाता है। सभी चीज़ों के साथ यही बात होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १५२-५३

माँ, वृक्ष किस वस्तु का प्रतीक है?

... वृक्ष एक जीवन्त वस्तु है, वृक्ष बढ़ता है, वह लम्बा होता है, वह क्रिया करता है, उसके अन्दर रूपान्तरण की शक्ति होती है। वह प्रतिनिधि है—जीवन का, उत्साह का, अपने-आपको नवीकरण करने की अभीप्सा का। वह विकास का प्रतीक है।

Throb of Nature पृ. ११८ **मोना सरकार**

वृक्ष

नदी के रेतीले किनारे पर एक वृक्ष
अपनी उच्चतम शाखाएँ उठाये खड़ा था
मानों आकाश की ओर बढ़ी हुई उँगलियाँ हों,
लेकिन वे उसका स्पर्श नहीं कर पातीं।
धरा से जकड़ा, स्वर्ग-प्रेमी था वह।
यह है मानव की आत्मा। शरीर और मस्तिष्क
हैं धरा के लिए प्यासे,
लेकिन जो रोके रखते हैं हमारी स्वर्गिक उड़ान को।

CWSA खण्ड २, पृ. २०७ **श्रीअरविन्द**

प्रकृति की गतिविधियाँ

तूफ़ान

(पॉण्डिचेरी में आये एक तूफ़ान के बारे में जिसके बाद बहुत-से लोग बीमार पड़ गये थे)

पहले यह एक दिशा से आया, फिर मुर्दनी चुप्पी छा गयी—हमेशा ऐसे ही होता है। तुम जानते हो, तूफ़ान किस तरह क्रिया करता है? यह ऐसी चीज़ है जो चक्कर काटती रहती है, लेकिन उसके केन्द्र में एक मुर्दनी शान्ति होती है; चारों तरफ़ एक चक्रवात होता है और वह चक्कर काटता और आगे ही आगे बढ़ता रहता है। तो पहला भाग (जिसे तूफ़ान का सामने का हिस्सा कहा जा सकता है) एक दिशा से आता है, और फिर वह चक्कर काटता रहता है, दूसरा भाग उसकी विपरीत दिशा से आता है। हमारे यहाँ एक नौसेनाध्यक्ष थे जो यह सारी चीज़ बहुत अच्छी तरह से जानते थे—सभी नाविक ये चीज़ें जानते हैं—एक बार उन्होंने समुद्र से आते हुए एक तूफ़ान को दूर से देख लिया और हमें चेतावनी दे दी। हमेशा इसी तरह होता है, मैंने भी इस बात पर ग़ौर किया था। तूफ़ान की पहली लहर उत्तर से आयी, लेकिन चूँकि हमें पहले ही चेतावनी मिल चुकी थी, हमने सब कुछ बन्द कर दिया। फिर हवा एकदम से बहनी बन्द हो गयी, दक्षिण दिशा की खिड़कियाँ खुली रह गयी थीं। दूसरी लहर दूसरी दिशा से आयी (वह शाम को, क़रीब ७ बजे आयी, बहरहाल, मुझे याद नहीं है, मैं यहाँ मेज़ के क़रीब बैठी थी)। और मैंने देखा... मैंने उस बवण्डर को आते हुए देखा, उसके अन्दर कई आकार थे: मानों राशियों के ढेर के ढेर हों, कुछ धूसर-काले, कुछ लाल-कत्थई। मैंने वह सब देखा, मैंने उन्हें दूर से आते देखा, कई सारे थे: भीमकाय आकार, घरों के जितने बड़े-बड़े दानव-आकार। तो मैं यहाँ बैठी थी, रात का भोजन करने जा ही रही थी कि एक लाल-कत्थई आकार ऊपर से गुज़रा, इस तरह, ठीक यहाँ से तुम्हारे घर की तरफ़ गया *(माँ अपना हाथ दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर एक झटके से घुमाती हैं)*, और उसने मुझ पर प्रहार किया। वत्स, भीषण दर्द! और उसके बाद भयंकर बेचैनी। तो स्वभावतः मैंने अपना सामान्य उपचार किया: मैं एकदम से शान्त और अचञ्चल हो गयी और मैंने वह

सब 'परम प्रभु' को समर्पित कर दिया। आकार गुज़र गया, रुका नहीं (वह गुज़र गया, प्रहार करके चला गया), और अपने पीछे (बाद में दर्द हलका हो गया था, क़ाबू में लाया जा सकता था) एक अजीब तरह की बेचैनी छोड़ गया... एक तरह की धूर्तता, मानों बड़े नुकीले पंजे तुम्हारे पेट को खरोंच रहे हों! तो मैं तुम्हारे बारे में सोच रही थी—और लोग भी जो उस आकार के रास्ते में थे, बीमार पड़ गये। लेकिन ऐसे बहुत सारे मामले होंगे, क्योंकि मैंने कई आकार देखे थे—देखो, उस आकार ने तो प्रहार किया ही था। मैंने उसे तूफ़ान की तेज़ी से आते, एकदम से प्रहार करके, चले जाते हुए देखा। और जब मैंने सुना कि तुम्हें बुख़ार था तो फ़ौरन मेरे दिमाग़ में आया, "तो यही बात है।"

मेरे सारे शरीर और मांसपेशियों में सभी जगह दर्द हो रहा है, मानों मुझे कूटा गया हो!

हाँ, यही बात है, मेरे बच्चे। चिकित्सक कहेंगे कि यह जीवाणुओं, रोगाणुओं या 'वाइरस' के झुण्ड का आक्रमण है (भगवान् जाने और क्या-क्या), लेकिन वह प्राणिक विद्वेष था—प्राणिक दुर्भावना—लेकिन जिसके ऊपर भौतिक की इतनी पर्याप्त परत थी कि वह तुरन्त क्रिया कर बैठी *(श्रीमाँ ज़ोरदार प्रहार की मुद्रा दर्शाती हैं)* : वह तत्काल आ गया, जानते हो, ऐसी चीज़ों को पनपने की ज़रूरत नहीं होती! फ़ौरन, मानों किसी आग्नेय तलवार ने तुम्हारा पेट चीर दिया हो...! यह चीज़ चली जायेगी।

एक बार जब ऐसी चीज़ मेरे साथ घटी तो मैंने उसका तात्कालिक प्रभाव एकदम रोक दिया (तात्कालिक प्रभाव... प्रायः विध्वंस था), मैंने 'अपने' तरीक़े से उसे पूरी तरह से रोक दिया: आन्तरिक निश्चलता को अपना कर सारी चीज़ 'प्रभु' के हाथों में सौंप दी। बहरहाल, अगले दिन मैं बीमार थी (अब भी मैं पूरी तरह ठीक नहीं हुई हूँ), मानों शरीर को पूरी तरह से झकझोर दिया गया था।...

अजीब बात यह है कि 'ल', जो इस आकार के मार्ग में था *(दक्षिण से उत्तर दिशा में हाथ की मुद्रा)*, वह भी तुम्हारी तरह बीमार पड़ गया, उसे भी बुख़ार था: वही समान चीज़, समान दर्द—बहुत ही अजीब से दर्द। और तुम भी क़रीब-क़रीब उसकी चपेट में आ ही गये थे;

लेकिन परसों मैंने उसे यह समझाया था कि वह अपना बचाव कैसे करे, और उसने मुझसे कहा कि उसने मेरा तरीक़ा अपनाया और वह बहुत अच्छी तरह काम में आया। मैंने उसे यह समझाया था कि वह चीज़ को किस तरह प्रभु के सामने "सरका दे" (यानी, उसे समर्पित करना सीख ले)। उसने इसकी कोशिश की और मुझसे कहा, "यह बहुत बढ़िया परीक्षण रहा, यह चीज़ अपनी जड़ न जमा पायी: पल-भर की बेचैनी, और फिर सब समाप्त।"

मनुष्य को यह करना सीखना चाहिये। अगर तुम इसे अपने मस्तिष्क से करोगे तो यह निरर्थक होगा; असरदार यह तब होता है जब तुम एक तरह की शाश्वत अचञ्चलता को इकट्ठा कर इसे कर सको... तब इसका तुरन्त असर होता है। लेकिन सामान्यतया लोग इसे औरों पर करना जानते हैं, अपने ऊपर नहीं, क्योंकि अपने-आप वे स्पन्दित होते रहते हैं—जब तुम्हें कहीं बहुत दर्द हो रहा हो तो उससे उठ रहे कम्पनों को सम्भालना बहुत मुश्किल हो जाता है। लेकिन इसे किया जा सकता है; तब भी जब बहुत तेज़ दर्द हो, प्रायः असहनीय (सामान्यतः तब व्यक्ति चीखना-चिल्लाना शुरू कर देता है) लेकिन, व्यक्ति इसे कर सकता है, व्यक्ति उस दर्दनाक स्थल पर अपने अन्दर की वह सारी नीरव अचञ्चलता को इकट्ठा कर उस पर क्रिया कर सकता है—शाश्वतता की अचञ्चलता। बहुत, बहुत ही तेज़ी से, कुछ पलों में, वह तीव्रता ग़ायब हो जाती है; बस एक याद बची रहती है, और उसके बाद उसे उस याद को फिर से न जगाने की सावधानी बरतनी होगी, लेकिन वह शरीर में उस याद का धागा छोड़ जाती है, वैसे तो तुम अपने शरीर को एक अच्छा-ख़ासा **अहानिकर** मुक्का जमा देते हो, भयंकर पीड़ा एकदम ख़तम हो जाती है, लेकिन निशान तो बन ही जाता है। वह काफ़ी समय तक बना रहता है। अगर तुम कुछ किये बिना, कुछ सोचे बिना, कुछ चाहे बिना, काफ़ी समय तक बहुत, बहुत ही शान्त और अचञ्चल रह सको तो मेरे ख़याल से उस चीज़ का बहुत कम असर होगा।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२६ अक्तूबर १९६३*

परम रहस्य है, वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं। —श्रीमाँ

प्राकृतिक विनाश

किसी ने कहा है कि प्रकृति में भूकम्प, भयंकर बाढ़ और महाद्वीपों के जलमग्न होने के जैसी जो दुर्घटनाएँ और विनाश आते हैं, वे बेसुरी और पापपूर्ण मानवजाति के कारण ही हैं और मानवजाति की उन्नति और विकास के साथ-साथ भौतिक प्रकृति में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन हो जायेगा—यह बात कहाँ तक सत्य है?

इस विषय का सत्य शायद यह है कि विपत्तियों और मुसीबतों से ग्रस्त प्रकृति में तथा असामञ्जस्यपूर्ण मानवजाति में, दोनों में, चेतना की एक और अभिन्न गति ही अभिव्यक्त होती है। इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये दोनों एक ही भूमिका पर स्थित हैं। इन दोनों के ऊपर एक चेतना विद्यमान है जो पृथ्वी पर अभिव्यक्त और मूर्तिमान होने की कोशिश कर रही है, और पृथ्वी की ओर अवतरण करते हुए मनुष्यों और भौतिक प्रकृति, सभी जगह उसे समान रूप से प्रतिरोध ही मिलता है। हम पृथ्वी पर जो अव्यवस्था और असामञ्जस्य देखते हैं वह इस प्रतिरोध का ही फल है। विपत्ति और विध्वंस, संघर्ष और हिंसा, अन्धकार और अज्ञान —ये सभी दोष इस एक ही स्रोत से निकलते हैं। बाह्य 'प्रकृति' का कारण मनुष्य नहीं है, और न मनुष्य का कारण बाह्य 'प्रकृति' है, बल्कि दोनों उस एक ही वस्तु पर निर्भर हैं जो इनके पीछे है और इनसे महान् है। और दोनों उस वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए जड़-जगत् की अविच्छिन्न और प्रगतिशील गति के भाग हैं।

अब, यदि पृथ्वी पर कहीं ऐसी ग्रहणशीलता जाग्रत् हो जाये, एक ऐसा उन्मीलन हो जाये जो अपनी पवित्रता में 'भागवत चेतना' की किसी चीज़ को उतार लाने के लिए पर्याप्त हो तो जड़-जगत् में जो अवतरण या अभिव्यक्ति होगी वह केवल आन्तरिक जीवन का ही रूपान्तर नहीं करेगी, बल्कि जड़-प्राकृतिक अवस्थाओं का भी, मनुष्य और प्रकृति में जो भौतिक अभिव्यक्ति हो रही है उसका भी रूपान्तर कर सकेगी। इस अवतरण की सम्भाव्यता मानवजाति की सामूहिक अवस्था पर निर्भर नहीं करती। यदि हमें मानव-समूह के सामञ्जस्य, उसकी एकता और उसकी अभीप्सा की उस अवस्था तक पहुँचने की प्रतीक्षा करनी पड़े जो दिव्य प्रकाश को उतार लाने और जड़-प्राकृतिक

अवस्थाओं का रूपान्तर करने के लिए काफ़ी बलवान् हो, तब तो बहुत आशा नहीं की जा सकती। परन्तु ऐसी सम्भावना है कि कोई एक व्यक्ति अथवा कोई छोटा-सा संघ या कुछ थोड़े-से लोग इस अवतरण को प्राप्त कर सकें। इस विषय में संख्या अथवा विस्तार का महत्त्व नहीं है। 'भागवत चेतना' का एक बिन्दु भी यदि पार्थिव चेतना में प्रवेश कर जाये तो वह यहाँ की हर एक वस्तु का रूपान्तर कर सकेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ४३-४४

... जब कोई भूकम्प होता है अथवा कोई ज्वालामुखी पर्वत भभक उठता है और यदि उसके आस-पास मनुष्य निवास करते हों और इन घटनाओं के कारण उनकी मृत्यु हो जाये तो स्पष्ट ही इन मनुष्यों के लिए यह एक तबाही है, पर हम अच्छी तरह यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रकृति के लिए यह एक अच्छा खिलवाड़ है! हम कहते हैं, "कितनी भयंकर आँधी है!" स्वाभाविक रूप से, मनुष्यों के लिए यह "भयंकर" है, पर 'प्रकृति' के लिए नहीं। यह तो बस अनुपात का प्रश्न है, है न? मेरे ख़याल से इस प्रसंग में किसी उच्चतर शक्ति को ले आना आवश्यक नहीं है जो अभिव्यक्त होना चाहती हो और प्रकृति उसका विरोध करती हो। यह सम्भव है, पर अपरिहार्य नहीं है। यह बहुत आसानी से समझा जा सकता है कि यह प्रचण्ड शक्तियों के साथ प्रकृति की एक क्रीड़ा है और उसके लिए यह महज़ एक मनोरञ्जन है; किसी भी हालत में कोई विपदा नहीं है। प्रकृति की चेतना के लिए या जड़-भौतिक चेतना के लिए पृथ्वी के भौतिक रूप और मानवता चींटियों के जैसी हैं। तुम स्वयं, जब तुम चलते हो, तुम यह आवश्यक नहीं समझते कि चींटियों को पैरों तले कुचले जाने से बचाने के लिए अपने रास्ते से ज़रा परे हट जाओ!—जब तक कि तुम कट्टर "अहिंसावादी" ही न होओ। तुम चलते हो और तुम यदि सैकड़ों चींटियों को कुचल देते हो तो कुछ किया नहीं जा सकता! हाँ, तो यही बात 'प्रकृति' के साथ भी है। वह आगे बढ़ती है, और यदि वह चलते-चलते अपने पथ पर हज़ारों मनुष्यों का नाश कर दे, तो उसके लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह फिर लाखों की सृष्टि कर सकती है! यह कठिन नहीं है। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ४, पृ. २०७-०८

प्रलय

विकास की समस्त प्रक्रिया, कम-से-कम पृथ्वी पर (मुझे मालूम नहीं कि दूसरे ग्रहों पर कैसा है) तो यही है। और शायद (मैं खगोल-शास्त्र के इतिहास के बारे में बहुत नहीं जानती) सृष्टि में भी यही होता है—क्या वे जानते हैं कि क्या भौतिक रूप से सृष्टि का विनाश होता है, क्या सृष्टि के अन्त का कोई इतिहास कहीं पाया गया है?... परम्पराएँ हमें बतलाती हैं कि एक विश्व का निर्माण होता है, फिर वह प्रलय में लील लिया जाता है, फिर एक और नूतन विश्व का निर्माण होता है; और उनके अनुसार, हमारी यह सातवीं सृष्टि है, और चूँकि यह सातवीं है, यह ऐसी है जो प्रलय में खींच नहीं ली जायेगी बल्कि पीछे हटे बिना वह निरन्तर प्रगति करती रहेगी। वस्तुतः, इसी कारण मानव सत्ता के अन्दर हमेशा बने रहने और बाधाहीन प्रगति करने की इच्छा सतत बनी रहती है—इसकी वजह यह है कि अब इसका समय आ गया है।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *१३ नवम्बर १९६३*

मुझे इस अभिव्यक्ति का एक अन्तर्दर्शन हुआ था—जो मैं कहूँगी कि एक "स्पन्दनशील" अभिव्यक्ति है—जो खुलती है, सिकुड़ती है, फिर खुलती है, फिर सिमटती है, बार-बार... फिर एक समय ऐसा आता है कि वह उद्घाटन ऐसा होता है, उसमें इतनी तरलता, इतनी नमनीयता, बदलने की ऐसी सामर्थ्य होती है कि उसे नया आकार लेने के लिए अब और सिकुड़ने की आवश्यकता ही नहीं होती, और उसी अभिव्यक्ति में एक विकसनशील रूपान्तर होता चला जाता है। तेओं कहा करते थे (मेरे ख़याल से मैं इसके बारे में तुम्हें बतला चुकी हूँ) कि यह वर्तमान सृष्टि सातवीं है, इसके पहले छह बार प्रलय हो चुका है, और यह सातवीं सृष्टि है, और यह कि इस सृष्टि में यह गुण है कि बिना सिकुड़े, यानी, प्रलय के बिना, यह रूपान्तरित हो जाये—और स्पष्टतः तब इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि तुम्हारे अन्दर शाश्वत चेतना विराजमान हो चुकी है, क्योंकि तब चीज़ें ऐसे चलें या वैसे, इसका कम-से-कम महत्त्व रह जाता है। वह तो सीमित मानव चेतना के लिए है कि उसके अन्दर एक तरह की महत्त्वाकांक्षा या आवश्यकता होती है कि जिसमें वह निवास करता है वह कभी समाप्त

न हो, क्योंकि हम कह सकते हैं कि वस्तुतः मनुष्य के अन्दर (भले वह इससे अभिज्ञ हो या नहीं) "शाश्वतता की एक तरह की स्मृति" बसी रहती है और शाश्वतता की वही स्मृति उसके अन्दर शाश्वत काल में जीने की अभीप्सा को जगाती है। और अगर शाश्वतता का यह भान व्यक्ति के अन्दर सक्रिय हो, वह उसके बारे में सचेतन हो जाये तो फिर वह रोता-धोता नहीं है—जब तुम किसी पुराने-धुराने कपड़े को निकाल देते हो तो क्या आँसू बहाते हो, नहीं न? (हो सकता है कि तुम्हें उससे लगाव हो, लेकिन तुम बैठ कर रोने तो नहीं लगते न?) तो यही बात है: अगर कोई सृष्टि विलीन हो जाये तो इसका यही अर्थ है कि उसने अपना कार्य पूरी तरह से सम्पन्न कर लिया है, कि वह अपनी सम्भावनाओं की सीमा तक पहुँच गयी है और अब उसकी जगह दूसरी सृष्टि को आना होगा।

मैंने इस घुमाव का अध्ययन किया है। जब तुम अपनी चेतना और अपने विकास में बहुत छोटे होते हो तब तुम्हारे अन्दर यह तीव्र ललक होती है कि तुम जिस धरती पर जी रहे हो वह कभी समाप्त न हो, तुम चाहते हो कि यह स्थायी बने रहे (भले व्यक्ति चाहे जितना रूपान्तरित हो जाये, लेकिन हमेशा इसी धरती पर बने रह कर, इसका दामन उसके हाथ से कभी न छूटे)।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से ६ *मार्च १९६६*

यह (सृष्टि) एक कलाकार की तरह है, ऐसे कलाकार की भाँति जो अपने-आपको, अपनी कला को गढ़ रहा है, जो एक प्रयास करता है, दो प्रयास, तीन प्रयास, जितने प्रयासों की ज़रूरत है उतने करता है, फिर इतनी पर्याप्त सम्पूर्णता तक पहुँच जाता है और इतना ग्रहणशील बन जाता है कि नयी विधाओं को, नूतन सर्जनों को, उन सर्जनों की आवश्यकताओं को ग्रहण कर सकता है ताकि उसे यह ज़रूरत ही न पड़े कि अपनी कला के लिए वह फिर-फिर उन्हीं समान रंगों को मिला कर समान विधाओं के चित्र रचे। अब वह कला, वह सर्जन इससे कहीं आगे चला गया है। और जैसा कि मैंने कहा, अब व्यक्ति को चुनाव का अवसर दिया गया है। दूसरे शब्दों में, यह सृष्टि या यह अभिव्यक्ति इन्द्रियगोचरता के हर्षानन्द के लिए बनायी गयी थी, यानी इस उद्देश्य के साथ कि व्यक्ति अपनी पंचेन्द्रियों

द्वारा इसका उपभोग कर सके, और एक बार यह कार्य अच्छी तरह से सम्पन्न हो जाये तो सृष्टि इतने पर्याप्त रूप में लोचदार, ग्रहणशील, नमनीय और विशाल बन जाती है कि अभिव्यक्त होने वाली नयी शक्तियों के द्वारा निरन्तर नये-नये साँचों में ढली जाये; तब नये रूपों को गढ़ने के लिए उन पुराने रूपों को नष्ट करने की अब कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

इस घुमाव ने अपने-आपको इस उक्ति के साथ प्रस्तुत किया : "जिसका आरम्भ हुआ है उसका अन्त भी होना चाहिये।..." यह मनुष्यों की उन मानसिक रचनाओं की रचना लगती है जो अनिवार्य रूप से अब सच नहीं हैं।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *४ मार्च १९६६*

.... कहा जाता है कि छः सृष्टियाँ थीं, यानी, विश्व के छः मूर्त रूप थे और छः बार विश्व वापस जा चुका है—जानते हो, शास्त्रों में बताया गया है कि—वह भगवान् में वापस समा चुका है। लेकिन कहते हैं कि यही अन्त है। यह स्पष्ट है कि यह एक अन्त तो है, लेकिन यह निष्पत्ति नहीं है। चूँकि सृष्टि में किसी चीज़ का अभाव था इसलिए उसे वापस खींच लेना और दोबारा बनाना ज़रूरी था। और कहा यह जाता है कि हमारी वर्तमान सृष्टि सातवीं है, और सातवीं होने के नाते यही वास्तविक है, यानी, अन्तिम है, और इसे फिर से खींच नहीं लिया जायेगा। यह अधिकाधिक पूर्ण होती जायेगी, इसका रूपान्तर होता रहेगा, ताकि इसे खींच लेने की आवश्यकता न पड़े।...

मैं सिर्फ़ इतना ही जानती हूँ कि इस बार सृष्टि सन्तुलन पर आधारित है। लेकिन एक विशेष सन्तुलन पर, क्योंकि यह प्रगतिशील सन्तुलन है। यह गतिहीन सन्तुलन नहीं है। वर्तमान सृष्टि का गुण सन्तुलन है; इसलिए कहा जाता है कि इस सृष्टि में, अगर प्रत्येक वस्तु ठीक अपने स्थान पर हो, पूर्ण सन्तुलन में हो तो बस, कहीं कोई अशुभ न रहेगा। अशुभ क्या है? वह है चीज़ों का सन्तुलन में न होना! ऐसी कोई चीज़ नहीं जो अपने-आपमें बुरी हो, केवल उसकी अवस्थिति ग़लत है, वह सच्ची अवस्थिति में नहीं है।

---श्रीमाँ

प्रकृति तथा नूतन सृष्टि

हे 'प्रकृति', भौतिक 'माँ'
तूने कहा है कि तू सहयोग देगी,
और तेरे सहयोग की भव्यता का कोई अन्त नहीं है।
नववर्ष सन्देश, १ जनवरी १९५८

अगली सुबह माँ ने मुझे एक बड़ा-सा कार्ड भेजा जिस पर शिव तथा शक्ति के चित्र अंकित थे। उन्होंने उस पर लिखा था :

इसे 'आध्यात्मिक बल' तथा 'भौतिक माँ' के बीच के सहयोग के एक पक्ष के रूप में लिया जा सकता है।

'प्रकृति' हमेशा अपने ही रास्ते चलती है। आध्यात्मिक चीज़ें भी अपना ही रास्ता अपनाती हैं। 'प्रकृति' तथा 'आध्यात्मिकता' साथ-साथ नहीं चलतीं। अब तक उनके बीच कोई सहयोग नहीं है, ये हमेशा एक-दूसरे के विरोध में खड़ी रहती हैं।

नववर्ष के आगमन से उनके बीच अनन्त सहयोग होगा। तब प्रचुरता, हर्ष, महिमा और भव्यता उतर आयेंगी। एक 'नूतन सृष्टि'—'अतिमानसिक सृष्टि' के आगमन के वचन को पाला जायेगा। क्योंकि 'प्रकृति माँ' यानी, 'भौतिक माँ' ने यह कह दिया है कि वे सहयोग देंगी। अतः, प्रत्येक को उनसे प्रेम करना चाहिये।

'हुता' की पुस्तक Mother you said so से ८ नवम्बर १९५७

नव-वर्ष के सन्देश की व्याख्या
१ जनवरी १९५८

(३० अक्तूबर १९५७ की) अपनी एक कक्षा में मैंने प्रकृति की, अव्यय सिरजनहारी प्रकृति की, अपार प्रचुरता का ज़िक्र किया था जो सदा नये-नये समवायों के लिए आकारों के पूरे समूह को मिलाती है, फिर अलग करती है, दोबारा गढ़ती है, उन्हें बनाती है, बिगाड़ती है और नष्ट कर देती है।

मैंने बताया था कि यह एक बहुत बड़ा कड़ाहा है: वह इन्हें चलाती है और कुछ-न-कुछ निकल आता है। यदि वह ठीक न हो तो उसे उसी में फेंक देती और कोई दूसरी चीज़ उठा लेती है।... उसके लिए एक या दो या सौ रूपों का कुछ महत्त्व नहीं है, वहाँ तो हज़ारों, लाखों रूप हैं और साल? साल तो सैकड़ों, हज़ारों, लाखों—बेहिसाब हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं, अनन्त काल है उसके सामने! स्पष्ट ही 'प्रकृति' को इसमें मज़ा आता है, और उसे कोई उतावली नहीं। यदि तुम उसे कोई काम चटपट कर डालने को कहो तो हमेशा उसका एक ही जवाब होता है: "पर किसलिए ऐसा करूँ? आख़िर क्यों? क्या तुम्हें इसमें मज़ा नहीं आता?"

जिस शाम मैंने तुम्हें ये बातें बतलायी थीं उसी शाम मैं 'प्रकृति' के साथ पूरी तरह से एकात्म हो गयी, उसकी लीला में शामिल हो गयी मैं। तादात्म्य की इस क्रिया को प्रत्युत्तर मिला, 'प्रकृति' और मेरे बीच एक नयी प्रगाढ़ आन्तरिकता पनपी, पास, और अधिक पास आते जाने की एक दीर्घ प्रक्रिया, और इसकी चरम पराकाष्ठा आयी ८ नवम्बर की अनुभूति में।

एकाएक 'प्रकृति' को बोध हुआ। उसने समझ लिया कि जिस नयी 'चेतना' का जन्म हुआ है वह उसे उठा फेंकने पर उतारू नहीं, बल्कि अपनी भुजाओं में भर लेने को आतुर है। उसने समझ लिया कि यह नयी आध्यात्मिकता जीवन से कन्नी नहीं काटती, उसकी गति के दृढ़ विस्तार के सामने भय से मैदान नहीं छोड़ती, इसके विपरीत, उसके सब पहलुओं को एक साथ लेकर चलना चाहती है। उसकी समझ में आ गया कि अतिमानसिक चेतना उसे घटाने के लिए नहीं, उसे पूर्ण बनाने के लिए यहाँ उतरी है।

और तब, परम 'सत्' से यह आदेश आया, "उठ, आँखें खोल, हे 'प्रकृति', सहयोग का आनन्द तेरे सामने है।" और अचानक सारी 'प्रकृति' आनन्द से पुलकित हो उछल पड़ी और बोली, "मुझे स्वीकार है। मैं साथ दूँगी।" और उसके साथ-ही-साथ आयी शान्ति और पूर्ण निस्तब्धता, ताकि शरीर का यह आधार, 'प्रकृति' के आनन्द की इस प्रबल बाढ़ को, जो मानों कृतज्ञता का अनवरत प्रवाह थी, भंग किये बिना, कुछ खोये बिना, ग्रहण कर सके, अपने में समा सके। उसने स्वीकारा, अनन्त काल में दूर तक निहारा कि यह अतिमानसिक चेतना उसे अधिक पूर्ण रूप से संसिद्ध

करेगी, उसकी गति को अधिक शक्ति प्रदान करेगी, उसकी लीला में नये आयाम और नयी सम्भावनाएँ जोड़ देगी।

और अचानक मैंने सुने धरती के हर कोने से आते हुए वे महागान जो हम कभी-कभी सूक्ष्म-भौतिक जगत् में सुनते हैं। कुछ-कुछ *बीथोवन* की संगीत-रचना के समान थे वे। ऐसी तान जो प्रगति-अभियान के समय ही बजायी जाती है। लगा, मानों प्रकृति और आत्मा के इस नये संगम के आनन्द को, चिर बिछुड़े दो पुराने बन्धुओं के पुनर्मिलन के हर्ष को व्यक्त करने के लिए, एक भी सुर भंग किये बिना पचासों 'ऑर्केस्ट्रा' एक साथ बज उठे हों।

तब फूट पड़े ये शब्द : "ओ 'प्रकृति', 'पार्थिव माता', तूने कहा है कि तू सहयोग देगी और इस सहयोग की श्री-शोभा और महिमा का कोई ओर-छोर नहीं।"

और इस श्री-शोभा से फूटता उल्लास पूर्ण शान्ति में अनुभूत हुआ।
और इस तरह हुआ इस नव-वर्ष के सन्देश का उद्‌भव।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २७५-७६

मधुर माँ, यह वाक्य मेरी समझ में नहीं आया : "विकास करती हुई प्रकृति की सबसे पहली भूमिकाओं में हमें उसकी निश्चेतना के मूक रहस्यों से ही पाला पड़ता है।" उसका रहस्य क्या है, मधुर माँ?

प्रकृति का अभिप्राय?... शुरू से श्रीअरविन्द ने कहा है कि गहराई में, जड़-तत्त्व के अन्तस्तल में 'भागवत उपस्थिति' छिपी हुई है। और सारा पार्थिव क्रम-विकास सृष्टि को अपने मूल की ओर लौटने की तैयारी के लिए हुआ है, इस भागवत उपस्थिति की ओर लौटने के लिए जो हर वस्तु के केन्द्र में है—यही है प्रकृति का अभिप्राय।

यह विश्व 'परम' का स्थूल रूप है, मानों अपने-आपको देखने के लिए, जीने के लिए, अपने-आपको जानने के लिए उसने अपने बाहर स्थूल रूप धारण किया हो और सम्भूति में उसे अभिव्यक्त करने के लिए एक जीवन और चेतना हो जो उसे अपने मूल के रूप में पहचानने के योग्य हो और सचेतन रूप में उसके साथ एक हो जाये। विश्व के अस्तित्व का

और कोई उद्देश्य नहीं है। पृथ्वी वैश्व जीवन का एक तरह का प्रतीकात्मक स्फटिकीकरण है, छोटा संस्करण है, संकेन्द्रण है, ताकि क्रम-विकास का कार्य और उसका अनुसरण अपेक्षाकृत आसान हो जाये। और यदि हम पृथ्वी का इतिहास देखें तो समझ सकेंगे कि विश्व क्यों रचा गया है। सनातन 'सम्भूति' में 'परम' ही अपने प्रति सचेतन हो रहा है; और लक्ष्य है 'अभिव्यक्त विश्व' में सृष्ट का 'स्रष्टा' से मिलन, एक सचेतन, स्वेच्छापूर्ण और स्वतन्त्र मिलन।

यही है प्रकृति का रहस्य। प्रकृति कार्यकारिणी 'शक्ति' है, यही है जो कार्य करती है।

और यह इस सृष्टि को लेती है जो प्रकट रूप में बिलकुल अचेतन लगती है लेकिन जिसके अन्दर 'परम चेतना' और एकमात्र 'सद्वस्तु' है, और वह काम करती है ताकि यह सब विकसित हो जाये, आत्म-सचेतन हो जाये और स्वयं को पूरी तरह चरितार्थ कर ले। पर वह यह एकदम शुरू से नहीं दिखाती। यह धीरे-धीरे विकसित होती है, और इसीलिए प्रारम्भ में यह ऐसा रहस्य होती है जो अन्त की तरफ़ खुलेगा। और क्रम-विकास में मनुष्य अब एक काफ़ी ऊँची अवस्था तक पहुँच गया है, अब यह रहस्य उद्घाटित किया जा सकता है और जो कुछ बाहरी अचेतनता में किया जाता था वह अब सचेतनता से, स्वेच्छा से किया जा सकता है और इसीलिए कहीं अधिक शीघ्रता से और सिद्धि के आनन्द के साथ किया जा सकता है।

मनुष्य में अब तो देखा जा सकता है कि आध्यात्मिक सत्य विकसित हो रहा है और यह कि पूर्णतया एवं मुक्त भाव से वह स्वयं को अभिव्यक्त करने वाला है। पहले, पशु और पौधे में यह... इसे देखने के लिए बहुत स्पष्ट दृष्टि की ज़रूरत थी, लेकिन मनुष्य तो स्वयं इस आध्यात्मिक सत्य से अवगत है, कम-से-कम अपने मानव-जीवन के उच्चतर भाग में तो है ही। मनुष्य यह जानने लगा है कि 'परम मूल' उससे क्या चाहता है और वह उसकी कार्यान्विति में सहयोग दे रहा है।

प्रकृति चाहती है कि सृष्टि स्वयं को स्थूल रूप में अभिव्यक्त 'स्रष्टा' अनुभव करने लगे, अर्थात्, 'सृष्टि' और 'स्रष्टा' में कोई भेद नहीं है और लक्ष्य है सचेतन और संसिद्ध मिलन। यही है प्रकृति का रहस्य।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३५१-५२

प्रकृति तथा माँ

सेवा-वृक्ष

आश्रम-परिसर में स्थित सेवा-वृक्ष (पीला गुलमोहर) का बीजारोपण १९३० में किया गया था। इस पर बहुतों ने बहुत-सी कविताएँ भी लिखीं। इसका विकास अच्छी तरह नहीं हो रहा था इसलिए यहाँ की पुरानी इमारत की आख़िरी ईंट को भी निकाल दिया गया और नयी खाद, मिट्टी इत्यादि इसकी जड़ों में डाली गयीं। उस ज़माने में किराये के मज़दूर न के बराबर लिये जाते थे, बस कुछ एक ही थे, इसलिए साधकों ने ही वहाँ का सारा मलबा साफ़ किया, इमारत की नींव के बचे-खुचे भारी पत्थरों को सब्बलों की मदद से निकाला। इस भारी काम के समय उनकी हथेलियों में छाले पड़ गये, लेकिन इसकी परवाह किये बिना, अपनी मेहनत से उन्होंने उस जगह को मुस्कुराते हुए बग़ीचे में बदल दिया।

जब उस वृक्ष की तली से मिट्टी इत्यादि निकाली जा रही थी तब पेड़ की कुछ जड़ें भी कट गयीं। जब यह बात माँ तक पहुँची तो उन्होंने बहुत अप्रसन्नता जतायी और कहा कि इस सेवा-वृक्ष की कोई भी जड़ या शाखा नहीं काटी जायेगी। श्रीअरविन्द के महाप्रयाण के क़रीब २० दिन पहले एक साधक ने—जो यहाँ बहुत समय से रहता था—सपने में देखा कि श्रीअरविन्द अपने कमरे से निकल कर बाहर खुले में आ गये और अपने पैर लम्बे करके एक बड़े पेड़ के तने के सहारे बैठ गये। सपने में ही बहुत आश्चर्यचकित हो उसने उनके परिचारकों से पूछा कि भला श्रीअरविन्द वहाँ क्यों थे? उन्होंने जवाब दिया कि अब से वे वहीं रहेंगे। इस बात का तात्पर्य उसकी समझ में बिलकुल नहीं आया और उसने इस सपने को कोई विकार या अपने ही मन की अशुद्ध अभिव्यक्ति समझ लिया, और इसे अपने दिमाग़ से एकदम परे सरका दिया ताकि जल्दी-से-जल्दी इसे भूल जाये, उसने इसका ज़िक्र किसी से नहीं किया, माँ से भी नहीं। फिर ५ से ९ दिसम्बर १९५० के उन ऐतिहासिक दिनों में उसने अपने गुरु के दर्शन दिन में कई बार किये जहाँ उनका पार्थिव शरीर विश्राम ले रहा था; लेकिन उसे उस सपने की ज़रा भी याद नहीं आयी। अन्ततः, जब ९ दिसम्बर को उसने उनका शरीर सेवा-वृक्ष के नीचे पधराते हुए देखा तब वह स्वप्न बिजली की तरह उसकी आँखों के सामने कौंध उठा, और इस बार उसे लगा कि सपने का अर्थ उसकी समझ में आ गया। कुछ दिनों के बाद जब उसे माँ से अपने इस सपने के बारे में बातचीत करने का अवसर मिला तो उन्होंने कहा कि यह सचमुच पूर्वाभास था।

*Homage to the Service Tree पुस्तक से, पृष्ठ :*१४-१५

साभार :
फूलश्री देवड़ा सेवा कोश
रजनीगन्धा १३ ई
२५, बालीगंज पार्क, कोलकाता- ७०००१९

'पुरोधा'

दैनन्दिनी

फ़रवरी

१. यह हमारे ज़िम्मे है कि 'उनके' काम को उसके लिए आवश्यक पूरी सच्चाई, उत्सुकता और एकाग्रता के साथ चरितार्थ करें।

२. हे प्रभो, हम धरती पर तेरे रूपान्तर के काम को पूरा करने के लिए हैं। यह हमारा एकमात्र संकल्प, हमारी एकमात्र तन्मयता है। वर दे कि यह हमारा एकमात्र कार्य भी हो, हमारी सभी क्रियाएँ हमें इस एकमात्र लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायता दें।

३. श्रीअरविन्द हमेशा हमारे साथ हैं, वे हमें प्रकाश देते हैं, रास्ता दिखाते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। हमें उनकी कृपा का उत्तर पूर्ण निष्ठा से देना चाहिये। वे अब भी हमें भागवत संकल्प द्वारा निर्मित उज्ज्वल भविष्य को जल्दी चरितार्थ करने के लिए जिस राह का अनुसरण करना चाहिये वह दिखलाते हैं।

४. मेरी निरन्तर, प्रेममयी उपस्थिति का भान सदा बनाये रखो और सब कुछ ठीक होगा।

५. भगवान् के बिना हम सीमित, अक्षम और असहाय सत्ताएँ हैं; यदि हम अपने-आपको पूरी तरह भगवान् के अर्पित कर सकें तो उनके साथ सब कुछ सम्भव है और हमारी प्रगति असीम होगी।

६. मेरी उपस्थिति मनुष्यों के बीच अन्तःप्रेरणा और पथ-प्रदर्शन के रूप में रहे ताकि वे लक्ष्य को स्पष्ट रूप से देख सकें और भटक न जायें।

७. चीज़ें जैसी हैं वैसी ही चलती रहेंगी और जब व्यक्ति के लिए कठिनाइयों में से मुक्त होने का समय आयेगा, तब कठिनाइयाँ ग़ायब हो जायेंगी।

८. आशीर्वाद अच्छे-से-अच्छे आध्यात्मिक परिणाम के लिए हैं, यह ज़रूरी नहीं है कि वे मानव इच्छाओं के अनुसार हों।
मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ तुम्हारी चेतना को विस्तृत और पवित्र बनाने के लिए हैं ताकि हमेशा तुम्हारे अन्दर शान्ति बनी रहे।

९. वे सभी आत्माएँ जो अभीप्सा करती हैं मेरी सीधी देख-रेख में हैं।

यह विश्वास रखो कि मैं हमेशा तुम्हें रास्ता दिखाने के लिए, तुम्हारे काम में और तुम्हारी साधना में सहायता करने के लिए तुम लोगों के बीच हमेशा उपस्थित रहती हूँ।

१०. बाहरी रंग-रूप और नियम बदलते रहते हैं परन्तु हमारी श्रद्धा और हमारा लक्ष्य एक ही हैं।
द्वार खुला है और उन सबके लिए हमेशा खुला रहेगा जो इस भागवत उद्देश्य के लिए अपना जीवन देने का निश्चय करें।

११. भगवान् के प्रेम और संरक्षण का आनन्द हर जगह मिल सकता है।

१२. जब तक एक साथ काम करने वाले सब लोग अपने लक्ष्य में सच्चे नहीं बन जाते, तब तक कोई सच्ची चीज़ नहीं की जा सकती।

१३. माताजी उन सबके साथ हैं जो दल और राजनीति से ऊपर भागवत जीवन के प्रति अपनी अभीप्सा में सच्चे हैं।

१४. हर एक अपने सुखी होने की क्षमता को अपने अन्दर लिये रहता है, लेकिन मुझे विश्वास है कि जो यहाँ सुखी नहीं रह सकते वे कहीं भी सुखी नहीं रह सकते।

१५. तुम्हें यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि भागवत सिद्धि की ओर तुम्हारे आरोहण में कोई भी चीज़ हस्तक्षेप न करे, और तब सफलता निश्चित है।

१६. अगर सत्य है तो वह कभी नहीं मुरझायेगा, परिस्थितियाँ चाहे कितनी भी विरोधी क्यों न हों।

१७. अपने सोचने, अनुभव करने और क्रिया करने से हर एक अपने अन्दर से स्पन्दन निःसृत करता है जिससे उसका वातावरण बनता है और स्वभावतः वह समान प्रकृति और गुणों के स्पन्दनों को आकर्षित करता है।

१८. अपने मन को विकसित करो, जो अभी तक बहुत अधिक असंस्कृत है, और ज्ञान के तत्त्वों को सीखो जो मनुष्य के लिए अनिवार्य हैं —यदि तुम अज्ञानी और असंस्कृत नहीं रहना चाहते।

१९. तुमने जो प्रगति की है उसकी पुष्टि करने के लिए कभी-कभी पीछे मुड़ कर देखना अच्छा होता है, लेकिन उस हालत में जब वह तुम्हें अभी जो प्रगति करनी बाक़ी है उसके लिए प्रयास को प्रोत्साहन देने

के लिए उत्तोलक का काम करे।

२०. रोग-मुक्ति सिर से नहीं, हृदय से आती है।

२१. सिद्धान्त रूप में यह ठीक है कि **तादात्म्य द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है,** लेकिन व्यवहार में इसे काम में लाना कठिन है। सारी प्रक्रिया एकाग्रता की शक्ति पर निर्भर करती है। तुम्हें ज्ञेय वस्तु पर एकाग्र होना चाहिये।...

२२. अनन्त वह नदी है जो बिना रुके बहती जाती है। व्यक्ति छोटी-सी तलैया है जो धूप में धीरे-धीरे सूख जाती है। उत्सर्ग वह नहर है जो नदी को तलैया के साथ जोड़ती है और तलैया को सूख जाने से बचाती है।

२३. मन हमेशा पागल की तरह दौड़ा करता है। पहला क़दम है कि **अपनी चेतना को** उससे अलग कर लो और उसे अपने-आप दौड़ने दो, **तुम उसके साथ** न दौड़ो।

२४. जब तुम्हारे अन्दर कोई कामना होती है तो तुम, जिस वस्तु की कामना की जाती है उसके शासन में रहते हो। वह तुम्हारे मन और तुम्हारे प्राण पर अधिकार कर लेती है और तुम उसके दास बन जाते हो।

२५. यह स्पष्ट है कि जो लोग यहाँ रहना चाहते हैं उन्हें बदलना होगा, इतना रहन-सहन के ढंग में नहीं जितना अपने जीवन के ढंग में। हम अधिक गहरी, अधिक पूर्ण, अधिक सच्ची चेतना के लिए प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, इस चेतना को अभिव्यक्त करना।

२६. हमारे योग की अनिवार्य नींव है सच्चाई, निष्कपटता, ईमानदारी, निःस्वार्थता, जो कार्य करना है उसके प्रति अनासक्त समर्पण, चरित्र की उदारता और स्पष्टवादिता।

२७. श्रद्धा, अधिक श्रद्धा! तुम्हारी अपनी सम्भावनाओं में श्रद्धा, परदे के पीछे कार्य करती हुई दिव्य शक्ति में श्रद्धा, जो कार्य करना है उस पर और जो मार्ग-दर्शन मिल रहा है, उस पर श्रद्धा। *—श्रीअरविन्द*

२८. बुद्धि के अत्यधिक वर्चस्व के कारण प्रायः मुरझाये हुए, दुःख-भरे हमारे इस युग में, दिव्य प्रेम से अधिक आवश्यक और साथ ही अधिक मूल्यवान् वस्तु और कोई नहीं है।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

सच्चा गुरु कौन है?

आध्यात्मिक जीवन में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक सम्बन्ध है। सच्चा गुरु वह है जिसे कोई उच्चतर सिद्धि मिल चुकी हो, हो सके तो भगवान् की उपलब्धि हो चुकी हो, जो अहंकार-विहीन हो या उसका अहंकार इतना अधिक दमित हो चुका हो कि भगवान् की शक्ति और उच्चतर शक्तियाँ उसके द्वारा काम कर सकें। जब कोई उसके पास पथ-प्रदर्शन के लिए आये तो गुरु को यह अनुभव होना चाहिये कि स्वयं भगवान् शिष्य को उसके मन, प्राण और शरीर द्वारा स्वीकार कर रहे हैं, या यह कि स्वयं भगवान् अपने-आपको गुरु और शिष्य दोनों के द्वारा एक साथ स्वीकार कर रहे हैं।

भगवान् गुरु का, सच्चे गुरु का शिष्य को मन्त्र देने के लिए उपयोग करते हैं, उन्हीं के द्वारा साधना करवाते और समय-समय पर मार्ग-दर्शन कराते हैं। इसका मतलब यह है कि गुरु ऐसे होने चाहियें जिनका भागवत चेतना के साथ सतत सम्पर्क हो। उनमें यह क्षमता भी होनी चाहिये कि वे शिष्य को अपनी चेतना में ले सकें और नीरवता में अपनी चेतना शिष्य को दे सकें। यह है सच्चा गुरु।

गुरु का चुनाव बहुत कठिन है, परन्तु कुछ बाहरी लक्षण ऐसे बताये जा सकते हैं जो सच्चे जिज्ञासु की सहायता कर सकें। पहली चीज़ जो तुम्हें देखनी चाहिये यह है कि क्या उनके साथ बोलते हुए या उनके नज़दीक रहने पर तुम घनिष्ठता का अनुभव करते हो, क्या तुम अनुभव करते हो कि उनके साथ बात करने से तुम्हारी सीमाएँ और तुम्हारा अज्ञान कम होता है, तुम्हारे अन्दर प्रकाश आता है और उच्चतर सम्पर्क बनता है?

तुमको यह भी देखना चाहिये कि क्या वे तुम्हारा आध्यात्मिक जीवन बनाने में, उसका लक्ष्य निश्चित करने में तुम्हारी सहायता करते हैं या नहीं, क्या वे तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। यह एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अधिकतर लोग जो आध्यात्मिक जीवन की ओर आते हैं, वे स्पष्ट रूप से नहीं जानते कि उनका लक्ष्य क्या है। वे इसलिए इस मार्ग पर आते

हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि वे जो भौतिक जीवन जी रहे हैं वह उनके लिए अनुकूल नहीं है और वे तथाकथित शान्ति की तलाश में हैं।

चूँकि तुम अपने भौतिक जीवन में शान्ति नहीं पा सके इसलिए उसकी खोज में आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ना उत्तम तरीक़ा नहीं है। आध्यात्मिक जीवन भौतिक जीवन से बहुत ज़्यादा कठिन है। अगर हम अपने भौतिक जीवन की चोटों और प्रहारों का सामना कर उन्हें सफलता के साथ न जीत सकें तो हम आध्यात्मिक जीवन में लोभ, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, जलन आदि के रूप में आने वाली कठिनाइयों का सामना करने के लिए अपने-आपको कम तैयार पायेंगे क्योंकि ये चीज़ें उस पथ पर बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। अगर भौतिक जीवन में इनसे अधिक आसान समस्याओं का सामना करने के लिए हमारे पास संकल्प की कमी हो तो आध्यात्मिक जीवन में इनका सामना करने के लिए हम प्रस्तुत न होंगे।

इसलिए पहली चीज़ यह है कि हम अपने अन्दर यह स्पष्ट कर लें कि हम आध्यात्मिक जीवन क्यों चाहते हैं और क्या हम उसके लिए तैयार हैं? वास्तव में हमारे गुरु इसका निर्णय करेंगे। तो हमें यह जानना और निश्चय करना है कि क्या एक व्यक्ति-विशेष हमें अपना लक्ष्य बतलाने और वहाँ तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। शायद मुझे ज़्यादा स्पष्ट भाषा में कहना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन में कुछ लोगों का लक्ष्य होता है, भगवान् को पाना; कुछ लोग केवल उन्हें पाना ही नहीं चाहते बल्कि जगत् में भगवान् की आज्ञा पूरी करना चाहते हैं ताकि भगवान् उनके द्वारा सीधा पृथ्वी पर कार्य कर सकें, लेकिन ऐसे बहुत ही कम, बहुत ही कम होते हैं।...

तुम्हारे गुरु प्रबोध पा चुके हैं, उन्हें भगवान् का सम्पर्क प्राप्त है। वे एक ऐसे दीपक हैं जिसे प्रदीप्त किया जा चुका है और तुम ऐसे दीपक हो जिसे जलाना है, एक बार दीपक सुलग जाये तो उसे बार-बार बालने की ज़रूरत नहीं रहती क्योंकि तब स्वयं भगवान् तुमको दिशा दिखाते हुए खड़े रहेंगे। जब गुरु तुमको स्वीकार कर लेते हैं तो वे तुमको अपनी चेतना में ले लेते हैं और तुम्हारे साथ एक भौतिक सम्पर्क भी बना लेते हैं, यह मन्त्र देकर हो सकता है, तुम्हें अपना चित्र देकर हो सकता है, प्रसाद देकर भी हो सकता है क्योंकि वे भोजन के द्वारा भी अपनी चेतना तुम्हें दे सकते हैं।

गुरु अपनी चेतना तुम्हें कैसे देते हैं, यह परम्परागत योगों का बहुत

महत्त्वपूर्ण अंश है। वे तुम्हें अपने लिए कोई शारीरिक काम दे सकते हैं ताकि शारीरिक सम्पर्क बना रहे, लेकिन सच्चा सम्पर्क तो आध्यात्मिक ही होता है। मैंने ऐसे गुरु देखे हैं जो मालूम तो यह होता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वहीन साधारण बातें करते हैं परन्तु सारे समय तुम्हें उच्च से उच्चतर चेतना देते जाते हैं और जब तुम वहाँ से उठते हो तो अपने-आपको एक और ही व्यक्ति पाते हो। साधारण बातों से मेरा मतलब है तरकारी-भाजी जैसी मामूली बातें, परन्तु इन बातों का मुख्य उद्देश्य होता है, उनके शरीर के साथ सान्निध्य और इससे वे तुम्हारी चेतना को कुछ देते हैं।

बहुत-से रास्ते हैं जिनसे गुरु शिष्य के साथ आन्तरिक चेतना में सम्प्रेषण कर सकते हैं, जैसे स्पर्श द्वारा, जब वे अपना हाथ तुम्हारे सिर पर रखते हैं, इसमें तुम्हें उच्चतर चेतना दी जाती है। मन्त्र द्वारा, प्रसाद द्वारा और उससे कम शब्दों द्वारा भी—क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में आन्तरिक अन्धकार को दूर करने के लिए शब्दों में अपेक्षाकृत सबसे कम शक्ति होती है—लेकिन उनका भी प्रभाव होता है क्योंकि वे किसी ऐसे व्यक्ति से आते हैं जिसे कुछ सिद्धि प्राप्त हो चुकी है। यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि जब गुरु तुम्हें स्वीकार करते हैं तो वे तुम्हारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं और उसे अपने व्यक्तित्व का भाग बना लेते हैं, तुम्हारी समस्याओं को अपना लेते हैं और तुम्हें अपने आध्यात्मिक विकास का भागीदार बना लेते हैं ताकि तुमको उनकी चेतना मिलने लगे। इस तरह से गुरु शिष्यों को स्वीकार करते हैं।

(क्रमशः) —नवजातजी

प्रश्न : प्यारी, प्यारी, प्यारी माँ, हर रोज़ मेरे लिए आप अधिक-से-अधिक प्यारी और अधिक-से-अधिक आराधनीय बनती जा रही हैं। आप किस भागवत रहस्य द्वारा हम पर यह मधुर जादू डालती हैं?

उत्तर : एकमात्र रहस्य और एकमात्र जादू है मेरा प्यार—मेरा वह प्यार जो मेरे बच्चों पर फैला हुआ है और जो उनकी सहायता और रक्षा के लिए भागवत कृपा को नीचे पुकारता है।

६ नवम्बर १९३८ *—श्रीमाँ*

श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार

(रवीन्द्रजी ने गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त करके श्रीअरविन्द के बड़े गुरुकुल में सन् १९३८ में २१ वर्ष की अवस्था में प्रवेश पाया था। २००१ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे यहीं के अन्तेवासी रहे।)

प.ले. का अर्थ है, पत्र-लेखक—सं.

माँ,

कभी-कभी मैं अपने विद्यार्थियों के साथ व्यक्तिगत बातचीत किया करता हूँ। मुझे यह देख कर धक्का लगता है कि कुछ अच्छे विद्यार्थी धन को इतना अधिक महत्त्व देते हैं। वे डॉक्टर भी बनना चाहते हैं तो अधिक पैसा कमाने के लिए!! मैं सोच रहा हूँ कि अपने हिन्दी के विद्यार्थियों को वाद-विवाद का विषय दूँ, "धन ही जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है या नहीं," क्या इससे उन्हें इस विषय पर गम्भीरता से सोचने का अवसर मिलेगा? पता नहीं!

हाँ, प्रयास करो—इसकी बहुत अधिक ज़रूरत है। ऐसा लगता है कि इन दिनों धन ही परम प्रभु बन गया है। सत्य पीछे पृष्ठभूमि में हट रहा है; रही बात प्रेम की, तो वह दृष्टि से बिलकुल ओझल है!

मेरा मतलब दिव्य प्रेम से है, क्योंकि जिसे मनुष्य प्रेम कहते हैं वह तो धन का बहुत अच्छा मित्र है।

आशीर्वाद।

१३ जून १९६४

माँ,

एक प्रश्न है, अगर आप उत्तर देना चाहें तो दीजिये। हर बार जब 'क' या उसके लोग मुझसे नाराज़ होते हैं या भोजनालय से नाराज़ होते हैं तो आप मेरी ही भूल निकालती हैं। क्यों? और मामलों में तो ऐसा नहीं होता।

भगवान् के लिए तुम भी औरों की तरह बेवक़ूफ़ न बनो।

मैं न तो किसी को दोष देती हूँ, न कभी किसी का पक्ष लेती हूँ। लेकिन मेरे देखने का तरीक़ा कुछ अलग है। मेरी चेतना के लिए धरती का समस्त जीवन, जिसमें मानव जीवन और समस्त मानसिकता भी शामिल है, स्पन्दनों की राशि है और ये अधिकतर मिथ्यात्व, अज्ञान और अव्यवस्था के स्पन्दन होते हैं जिनके अन्दर उच्चतर लोकों से आने वाले सत्य और सामञ्जस्य के स्पन्दन अधिकाधिक कार्य में लगे हैं और वे उनके प्रतिरोध में से रास्ता बना रहे हैं।

इस दृष्टि में, अहंभाव, व्यष्टिगत हठधर्मिता और पार्थक्य बिलकुल अवास्तविक और भ्रामक ठहरते हैं।

जब वर्तमान अस्तव्यस्तता में कोई *अतिरिक्त* गड़बड़ पैदा हो जाती है तो मैं जितना सम्भव हो उतना सामञ्जस्य लाने के लिए उस पर कुछ विशेष स्पन्दन भेजती हूँ। इसमें स्वयं व्यक्ति को उस *"प्रहार"* का इतना अनुभव नहीं होता जितना उस चीज़ को जो असामञ्जस्य के साथ चिपकी होती या उसका पक्ष लेती है।

सच बात तो यह है कि मुझे विश्वास था कि तुम सहज भाव से सत्य का पक्ष लोगे और समझ जाओगे कि ऐसे मामलों में कभी एक पक्ष पूरी तरह ठीक और दूसरा पक्ष पूरी तरह ग़लत नहीं होता। मिथ्यात्व और अस्तव्यस्तता के साथ जो जितना चिपका है वह उतना दोषी है।

१५ जुलाई १९६४

माताजी का ऊपर दिया हुआ पत्र पढ़ कर प.ले. चकरा-सा गया। उसका मतलब यह बिलकुल न था कि माताजी पक्षपात करती हैं, उसने नाराज़ होकर भी माताजी को पत्र न लिखा था। उसने 'क' के साथ हिल-मिल कर काम करने की पूरी कोशिश की थी, इतनी कोशिश शायद और किसी के लिए न की होगी, वह भी इतने लम्बे समय तक लगातार, लेकिन परिणाम क्या हुआ? एकदम असफलता। वह यह सब रोना रोकर माताजी से पूछता है कि इसके पीछे क्या कारण है।

कुछ लोगों का प्राण हमेशा अस्तव्यस्तता और असामञ्जस्य, छोटे-मोटे लड़ाई-झगड़ों और गड़बड़ों को पुकारता है। उनके अन्दर सामान्यतः उत्पीड़न का एक पागलपन भी होता है। वे समझते हैं कि हर एक उनके विरुद्ध है। इसे ठीक करना बहुत अधिक कठिन है और इसके लिए प्रकृति के आमूल परिवर्तन की आवश्यकता होती है।

ऐसे लोगों के साथ व्यवहार करते हुए सबसे अच्छा यह है कि प्रतिक्रियाओं की परवाह न करो और तुम्हें जो करना है वह सरलता और सच्चाई के साथ करते चलो। इस मामले में 'क' को मुझसे अपने जीवन-भर की सबसे कड़ी डाँट मिल गयी है; शायद उसका कुछ असर हो।

आशीर्वाद।

१५ जुलाई १९६४

माँ,

एक विद्यार्थी ने मुझसे पूछा है कि समय इतनी तेज़ी से क्यों चलता हुआ मालूम होता है। मेरा ख़याल है कि इसका सम्बन्ध हमारे अन्दर स्थित शाश्वतता से है। लेकिन बात मुझे भी स्पष्ट नहीं है।

जब तुम वैश्व सामञ्जस्य के सम्पर्क में रहते हो तो समय कोई निशानी छोड़े बिना चलता चला जाता है।

संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कई सर्वोत्कृष्ट कवियों ने राधा और कृष्ण के बारे में इस तरह गाया है मानों वे शारीरिक क्षुधा और कामुक लालसाओं की बात कर रहे हों। कोई चीज़ यह मानने को तैयार नहीं होती और कहती है कि यह केवल वासना नहीं हो सकती। शायद उन्हें प्राणमय और शारीरिक भूमिका पर भगवान् के साथ सम्बन्ध व्यक्त करने और शरीर और भावनाओं का सर्वभावेन समर्पण व्यक्त करने के लिए और शब्द नहीं मिले। यह प्रश्न बहुधा सामने आता है।

मैंने हमेशा यही माना है कि ऐसा सच्चे शब्द और उचित भाषा पाने की

अयोग्यता के कारण होता है।
१७ जुलाई १९६४

प.ले. काम के बारे में अनेक समस्याएँ गिनाने के बाद कहता है, "इस मुश्किल समय में अपना काम निर्विघ्न रूप से चलाने के लिए जिस चीज़ की ज़रूरत हो वह प्रदान कीजिये।"

सतर्क श्रद्धा स्थिति की रक्षा करेगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।
६ अगस्त १९६४

माँ,

'क' मुझसे कहता है कि उसके विभाग में काम करने वाले 'ख' और 'ग' अपने काम की पूरी तरह से उपेक्षा कर रहे हैं। उनकी मशीनें धूल से अटी पड़ी हैं, 'घ' उन्हें तरह-तरह की बुरी आदतें सिखाता रहता है, मेरी समझ में नहीं आता, मैं क्या करूँ।

बुरा काम तभी होता है जब शीर्षस्थ व्यक्ति में उचित *चेतना* का अभाव हो।

कोई संगठन ठीक तरह से चले इसके लिए आवश्यक शर्तें हैं : स्पष्ट तथा यथार्थ दृष्टि कि क्या करना है, और उसे कार्यान्वित करने के लिए *स्थिर*, *शान्त* और *दृढ़* इच्छाशक्ति हो। और एक सामान्य नियम के अनुसार, औरों से उन गुणों की माँग न करो जो स्वयं तुम्हारे अन्दर नहीं हैं।

मेरा यह एहसास बहुत तीव्र है कि इस विभाग में निरीक्षण वैसा नहीं है जैसा होना चाहिये।
२५ अगस्त १९६४

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३४१-४५

... जब चीज़ें ग़लत होती जा रही हों तब अपनी सद्भावना और सहयोग दिखाने का सबसे अच्छा अवसर होता है। —*श्रीमाँ*

चल, अब रुक मत

(आश्रम-विद्यालय की भूतपूर्व छात्रा की छात्र-जीवन में लिखी कविता—सं.)

चल, सपनों की उड़ान भर
तू किससे कतराता है?
तू पन्नों की लिखाई बन,
मुस्कुराहटों की वजह बन,
ख़ुद को भुला, एक जहां बन।

चल, मार छलाँग उस पार
तू क्यूँ रुक जाता है?
ख़्वाहिशों को अब न दबा,
ख़ुद से अपने-आपको न छिपा,
डर को भुला, वीरता की मिसाल बन।

चल, उठा अपनी आवाज़
तू सहम क्यूँ जाता है?
अपनी कहानी अनकही न रख,
अपने जज़्बात को दबा कर न रख,
तकलीफ़ों को भुला, इन्साफ़ का मार्ग बन।

चल, अपना रच दे इतिहास
तू किसमें खो जाता है?
ख़त्म कर इन्तज़ार की घड़ियाँ,
बना अपनी रंगों-भरी दुनिया,
कल को भुला, आज की पहचान बन।

—शक्ति शर्मा

लाजवाब पिकनिक

(शिवाजी के नाम से परिचित पाठक 'जिंजी' या 'सेंजी' से भी परिचित ही होंगे। दक्षिण में, पॉण्डिचेरी के पास जिंजी-दुर्ग है जो आज भी—'खण्डहर बता रहे हैं इमारत बुलन्द थी'—को चरितार्थ करता है। छत्रपति शिवाजी का यह दुर्ग बहुत मायने रखता है और अंग्रेज़ों ने तो इसे 'Troy of East' का दरजा दे दिया था। आज यह एक राष्ट्रीय स्मारक है और पुरातात्त्विक विरासत के संरक्षकों के रख-रखाव में है, अतः एक अच्छा-ख़ासा पर्यटक-स्थल बन गया है।

लेकिन आज से क़रीब ५० साल पहले इसने इतना नाम नहीं कमाया था, पिकनिक-स्थल ज़रूर था, आश्रम-विद्यालय के छात्र-छात्राएँ, आश्रमवासी इत्यादि साल में एक बार यहाँ ज़रूर जाते थे, तब चहल-पहल से यह क्षेत्र गूँज उठता था, वरना अधिकतर प्रकृति की विशाल गोद में शान्ति से अँगड़ाया करता था...।

क़रीब ३८ साल पहले लिखा यह लेख लेखिका के लिए ख़ास मायने रखता है, क्योंकि उनके उस अनुभव और सबसे बढ़ कर, उनके घनिष्ठ कप्तान की स्मृति उनके ज़ेहन में आज भी एकदम से ताज़ा है—सं.)

'पिकनिक' नाम सुन कर किसकी बाँछें नहीं खिल जातीं? भई, मेरे जैसों का न केवल मुखमण्डल बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि सर्वांग खिल उठता है। और फिर वार्षिक 'पिकनिक'! वह ठहरी लाजवाब। लेकिन इस बार दिल में हलकी धुकधुकी हो रही थी, कारण भी था—पिकनिक के साथ-साथ पैर-तुड़ाई थी, यानी पॉण्डिचेरी से जिंजी—७३ कि.मी. का रास्ता पैदल तय करना। यह तो हर साल का कार्यक्रम है। हाँ, फ़र्क बस इतना था कि इस साल पैदल चलने वालों की संख्या कुछ तगड़ी थी—९० बच्चे-बड़े जब एकत्र हुए तो ऐसा लगा मानों किसी राजा की छोटी-मोटी टुकड़ी कूच की तैयारी में हो। इनमें जो पहली दफ़ा इस यात्रा में भाग ले रहे थे उनकी आँखों में एक तरह की शंका, कुछ भय पढ़ा जा सकता था, अनुभवियों की बत्तीसी खिली जा रही थी, आँखों से आत्मविश्वास फूटा पड़ रहा था। और कुछ थे मेरी न्याईं—लम्बे अन्तराल के बाद पैदल यात्रा

में हिस्सा लेने वाले। हम जैसों में न आत्मविश्वास का अतिरेक था न थी भय से सर्वथा मुक्ति।

ख़ैर, यात्रा के श्रीगणेश के समय छोड़िये इन सब बातों को। आरम्भ में चारों तरफ़ उत्साह ही उत्साह उफन रहा था—नियत स्थल 'कॉर्नर हाउस' में सबकी हाज़िरी लेने के बाद ज्यों ही हम बाहर आये कि शुभ कामनाओं से लदा-फँदा बन्धु-बान्धवों का बड़ा-सा काफ़िला इन्तज़ार करता दीखा। ज़ोर-ज़ोर से बतियाते, हँसते-चहकते समूह को देख हर रास्ते चलते की आँखों में कुछ आश्चर्य, कुछ प्रश्न-सा उभरता, लेकिन हम इन सबसे बेख़बर 'दाहिने-बायें दाहिने-बायें' की लय में आगे बढ़ते, चले जा रहे थे।

अब हम छह घण्टे निरन्तर चल चुके हैं, यानी रात के नौ बजे हैं। दृश्य काफ़ी बदल गया है। सबसे पहले जिंजी पहुँचने का निश्चय लिये दो-चार युवकों के उत्साह के साथ-साथ दूसरे कई उस धारा में बह उनके साथ हो लिये हैं। जो पीछे रह गये हैं उनके भी उपदल बन गये हैं और अन्त में मुख्य कप्तान के साथ चल रहे हैं कुछ ऐसे जिन्होंने चाय पीने के स्थान—'माइलम'—के बाद, मन-ही-मन, जिंजी तक बस में जाने का निश्चय कर लिया है।

प्यास के मारे हलक सूखा जा रहा है लेकिन कप्तान हैं कि पानी की एक घूँट तक पीने की अनुमति नहीं दे रहे। इस समय उनका आदर्श वाक्य बन गया है—'चलते रहो, बढ़ते रहो'। आख़िर एक-एक सन्तरा सबको बाँटा गया, लगा रेगिस्तान में पानी मिल गया, लेकिन ज़रा-सा सन्तरा, ऊँट के मुँह में ज़ीरा वाली कहावत चरितार्थ कर बैठा।

लीजिये, तय कर लिया आधा सफ़र। गरम-गरम चाय और जैम लगी डबलरोटी खाकर सबने तृप्ति की साँस ली—तभी कप्तान का स्वर सुनायी दिया—जो थक गये हैं उन्हें वापस पॉण्डिचेरी ले जाने के लिए बस खड़ी है, लेकिन यहाँ से चल पड़ने के बाद हम जिंजी पहुँच कर ही दम लेंगे। चारों तरफ़ खुसुर-पुसुर चलने लगी, यहाँ तो पासा ही पलटा जा रहा है। जिंजी की बजाय वापस पॉण्डिचेरी। थकान से चूर-चूर होने की शिकायत करने वालों ने सिर खुजाया, कप्तान को दबी ज़बान से कोसा, उनसे बस से जिंजी जाने की अनुनय-विनय तक की, लेकिन उन्हें टस से मस होते न देख कर आख़िर मन मसोस कर हर एक अपने-अपने कपड़े झाड़ आगे

बढ़ने के लिए प्रस्तुत हो गया।

घनी नहीं फिर भी अँधेरी रात, तन से थका, लेकिन मन में एक बार फिर उत्साह का रंग लिये आगे की ओर बढ़ता दल, कोई थकान शब्द के काले बादल को मन के इर्द-गिर्द से भगाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से गीत ही गाने लगा है, कुछ अधिक शर्मीले उसके साथ-साथ गुनगुनाने लगे हैं तो किसी दल के लोग आपस में पहेलियाँ बुझा रहे हैं। उधर पिछड़े दल को कप्तान दायें-बायें दायें-बायें के स्पष्ट बोलों पर बाक़ायदा कवायद करवाये लिये चले आ रहे हैं। अभी तो चाय-नाश्ता हुआ, लेकिन दो घण्टों के बाद ही चारों तरफ़ से भूख भूख की गुहार मचने लगी। लो, यह कप्तान भी लाजवाब हैं, जो आधे रास्ते तक हमें दाने-दाने को तरसा रहे थे अब उन्होंने खाने की बात मुँह से निकलते-न-निकलते सरस खीरे और पक्के-पक्के केले झटपट निकाल कर दे दिये।

रात के साथ-साथ धीरे-धीरे हमारा दल भी आगे बढ़ रहा है। रात के तीसरे पहर के साथ ठण्डी-ठण्डी बयार भी बहनी शुरू हो गयी है। हवा में हलकी-सी ख़ुनकी, रात्रि की निस्तब्धता, आकाश से आशीर्वाद की न्याईं हम पर छिटकता शीतल प्रकाश—समाँ कुछ ऐसा बँध गया कि सब धीरे-धीरे शान्त से होने लगे। उस दिन साक्षात् नींद को आँखों में उतरते महसूस किया। पलकों की चिक अनायास आँखों पर ढलने-ढलने को है और हम हैं कि नींद को भरसक खदेड़ने के प्रयत्न में लगे हैं। कैसी विडम्बना है, दूसरी रातें अपने नरम बिस्तरों में दुबक कर पलकें बिछाये आप निंदिया रानी की बाट जोहते-जोहते करवटों पर करवटें बदलते रह जायें और आज ये बिन बुलाये मेहमान की तरह कैसी दनदनाती हुई घुसी चली आ रही हैं।

नींद-नींद का राग अलापते, शराबियों की तरह इधर-से-उधर झटके खाते हम किसी तरह आगे बढ़ रहे हैं, यह कहना ज़्यादा सच होगा कि हमें आगे बढ़ाया जा रहा है। जी नहीं, सबको नहीं, एक दल जो शुरू से आगे निकल गया है वह तो अब तक अपने गन्तव्य स्थान पर शायद पहुँच गया हो। कुछ पर नींद ऐसी हावी हो गयी है कि वहीं चलती सड़क पर लेट जाने के लिए मचल रहे हैं, दृश्य कुछ ऐसा अलबेला है कि कप्तान एक को उठायें तो दूसरा बैठने को प्रस्तुत, दूसरे को उठायें तो तीसरा लम्बलेट हो जाने को तैयार—अजब चकरघिन्नी बने घूम रहे हैं बिचारे। अन्त में ऐसे

लोगों के लिए कप्तान ने दूसरों को आदेश दे दिया कि जो कोई यूँ बीच राह में बैठ जाये उसे उसके साथी ज़बरदस्ती उठा कर दौड़ायें। लो, कप्तान के साथ-साथ अब साथियों की भी गालियाँ सुननी पड़ रही हैं। कोई बात नहीं, चार-पाँच मील का सफ़र बाक़ी है तब तक कप्तान की तरह या तो कानों में रुई ठूँस लो या चिकना घड़ा बन जाओ।

धीरे-धीरे आकाश के तारे धुँधले होकर विलीन हो रहे हैं, प्राची में रंगोत्सव की तैयारी चल रही है। सवेरे के साथ-साथ रात की ख़ुमारी भी आँखों से छिटक कर दूर जा गिरी है। ७० कि.मी. मंज़िल पार कर ली है बाक़ी है अन्तिम तीन कि.मी.। काम पर जाते पुरुष, कुँए पर जाती पनिहारिनें—सब रुक-रुक कर हमारे लंगड़दीन दल को फटी-फटी निगाहों से देखे जा रहे हैं। कोई सलाह दे रहा है अगली बार बस करके आना, ज़्यादा पैसे नहीं लगते बस में! दूसरे के दिमाग़ में किसी तरह यह बात नहीं बैठ पा रही कि बिना किसी मक़सद के ये लोग यूँ अपने ऊपर अत्याचार क्यों कर रहे हैं भला? स्त्रियों का कोई दल हमें निरा बावरा समझ, दाँतों में पल्लू दाबे खी खी खी हँसा चला जा रहा है। लेकिन अब हमें किसी के उपहास की रत्ती-भर परवाह नहीं—लक्ष्य जो क़रीब है।

लीजिये आ गया जिंजी। पहले पहुँचे साथियों की तेल-मालिश चल रही है, हम भी निश्चिन्त होकर पसर गये हैं आकर। बस से आया दल हमारी आवभगत में कोई कसर नहीं छोड़ रहा—हाथ के इशारे-भर की देर है गरमागरम चाय और नाश्ते से सजी तश्तरियाँ हाज़िर हैं। थकान से चूर-चूर होने पर भी सबकी आँखों से प्रसन्नता फूट रही है। रास्ते में कप्तान को सबसे ज़्यादा दुःखी करने वाले, उन्हें रास्ते-भर कोसने वाले अब मंज़िल पर पहुँच जाने के बाद उन्हें धन्यवाद देते-देते नहीं अघाते। इतना ही नहीं, अगली बार फिर से आने का वादा भी कर रहे हैं।

लीजिये, यह रहा हमारा पिछले साल का जिंजी-अभियान। अब देखना यह है कि इस साल कितने अपने वादे निभाते हैं। अगर आप भी इस तरह के पिकनिक-प्रेमी हैं तो आ जाइये हमारा साथ देने के लिए दिसम्बर में पॉण्डिचेरी। तब तक के लिए ख़ुदाहाफ़िज़।

'पुरोधा', सितम्बर १९८४ से —वन्दना

An animation film is in the making …

JOIN HANDS TO MAKE THIS FILM

DONATE NOW!

"We believe that it is to make Yoga the ideal of human life that India rises today."

~Sri Aurobindo

SRI AUROBINDO

A New Dawn

A Film that brings out the **forgotten chapter of India's awakening.**

For details, visit: www.anewdawn.in

An offering by Sri Aurobindo Society for the 150th birth anniversary of Sri Aurobindo

Date of Publication: 1st February 2022
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्कः एक वर्ष–२००रु.; तीन वर्ष–५८०रु.; पाँच वर्ष–९६०रु.

संस्थापकः श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रकः स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशकः प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थलः सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थलः श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिकाः वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org